जैन साहित्य एवं मंदिर उपकरण

हमारे यहाँ सभी प्रकार का दिगंबर जैन एवं भारत के सभी प्रमुख धार्मिक संस्थानों का सत साहित्य एवं मदिर में उपयोग हेतु उपकरण और प्रभावना में बाटने योग्य सामग्री सीमित मूल्य पर उपलब्ध है !

शुध्द चांदी के उपकरण आर्डर पर निर्मित किये जातें है!

(पांडुशिला, सिंघासन ,छत्र ,चंवर प्रातिहार्य , जापमाला , मंगल कलश,पूजा बर्तन चंदोवा,तोरण,झारी)

नोट :- हमारे यहाँ घरो मे उपयोग हेतु , साधुओं के उपयोग हेतु, अनुष्ठानो मे उपयोग हेतु शुध्द देशी घी भी आर्डर पर उपलब्ध कराया जाता है !

Contact:-
Sourabh Sagar Indore
9993602663
7722983010
sourabhjn1989@gmail.com

जय जिनेन्द्र

गाय का शुद्ध देशी घी

शुद्धता पूर्वक बनाया गया देशी घी

साधु व्रती एवं धार्मिक अनुष्ठानो को ध्यान में
रख कर बनाया गया शुद्ध देशी घी

घी ऐसा के दिल जीत जाये !

अब 1kg की पैकिंग में भी उपलब्ध

संपर्क सूत्र

Contact For Order

Sourabh Sagar Indore

Call & Whatsapp:

9993602663,7722983010

All India Home Delivery

श्री नागसेन मुनि विरचित

तत्त्वानुशासन

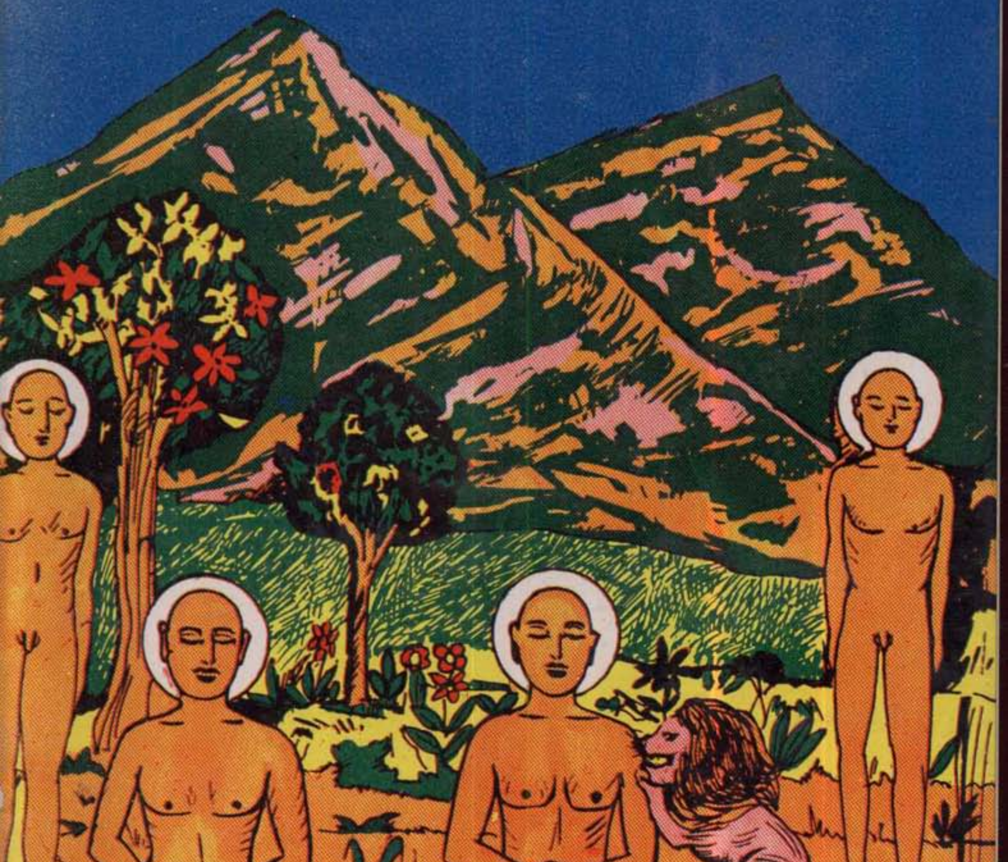

अनुवादक - डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युग प्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर पूज्य आचार्यश्री
विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

श्रीमन्नागसेन मुनि विरचित

तत्त्वानुशासन

सम्पादन

परमपूज्य ज्ञानदिवाकर उपाध्यायरत्न १०८ भरतसागरजी

अर्थ सहयोग

श्री लादूलाल जी धर्मपत्नी मोहनी देवी बाकलीवाल
गोलाघाट (आसाम)

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हीरक जयन्ती प्रकाशनमाला पुष्प संख्या–१५

प्रेरक : **उपाध्याय मुनिश्री भरतसागरजी महाराज**

निर्देशिका : **आर्यिका स्याद्वादमती माताजी**

प्रबंध संपादक : **ब्र० धर्मचन्द शास्त्री, ब्र० कु० प्रभा पाटनी**

ग्रन्थ : **तत्त्वानुशासन**

प्रणेता : **श्री नागसेन मुनि**

संस्करण : प्रथम संस्करण प्रतियाँ १०००
वीर निर्वाण सं० २५१९ सन् १९९३

प्रकाशक : **भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्**

प्राप्ति स्थान : (१) आचार्य विमलसागरजी संघ

(२) अनेकान्त सिद्धान्त समिति, लोहारिया, बाँसवाड़ा [राजस्थान]

(३) श्री दि० जैन मन्दिर, गुलाबबाटिका, लोनी रोड, दिल्ली

मूल्य :

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी–१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

चारित्र शिरोमणि

सन्मार्ग दिवाकर

करुणा निधि

वात्सल्य मूर्ति

अतिशय योगी—

तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—

अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता

शान्ति-सुधामृत के दानी

वर्तमान में धर्म-पतितों के उद्धारक

ज्योति पुञ्ज—

पतितों के पालक

तेजस्वी अमर पुञ्ज

कल्याणकर्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा

बीसवीं सदी के अमर सन्त

परम तपस्वी, इस युग के महान् साधक

जिनभक्ति के अमर प्रेरणास्रोत

पुण्य पुञ्ज—

गुरुदेव आचार्यवर्य श्री 108

श्री विमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में

"ग्रन्थराज"

समर्पित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुभ्यं नमः परम धर्म प्रभावकाय ।
तुभ्यं नमः परम तीर्थ सुवन्दकाय ।।
"स्याद्‌वाद" सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय ।
तुभ्यं नमः विमल सिन्धु गुणार्णवाय ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

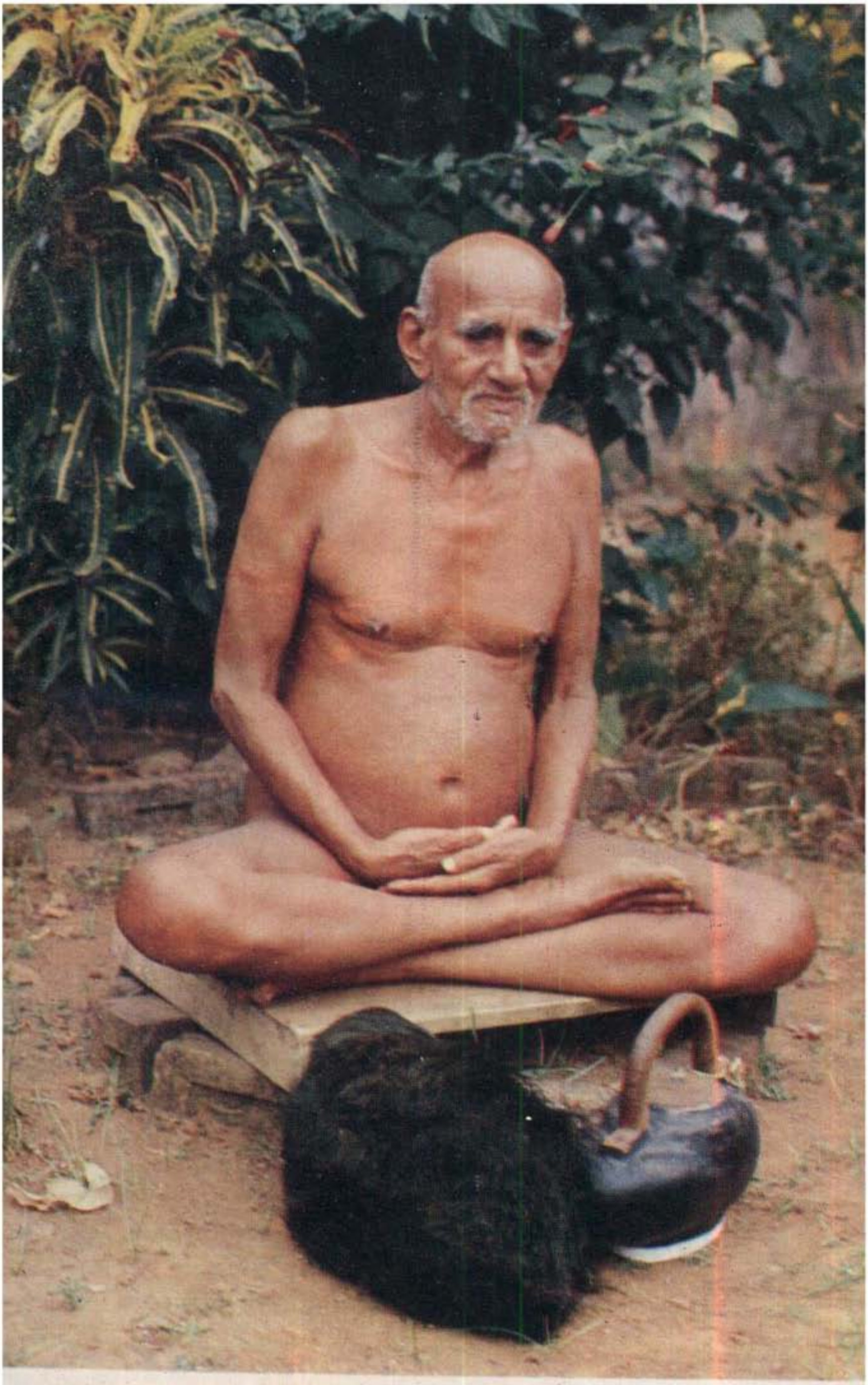

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोनागिर

॥ आशीर्वाद ॥

विगत कतिपय वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक घना कोहरा ऐसा छाया हुआ कि सत्यरूप आगम का आवरण आने लगा — एकान्तवाद - निश्चयाभास तूल पकड़ने लगा।

आज के इस भौतिक युग में असत्य को अपना प्रभाव फैलाने में विशेष श्रम नहीं करना होता, यह कटु सत्य है, कारण जीव के मिथ्या संस्कार अनादिकाल से चले आरहे हैं। विगत ७०-८० वर्षों में एकान्तवाद ने जैनत्व का टीका लगाकर निश्चय नय की आड़ में स्याद्वाद को पीछे धकेलने का प्रयास किया है। मिथ्या साहित्य का प्रचार-प्रसार किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द की आड़ लेकर अपनी ख्याति चाही है और ग्रन्थों में भावार्थ बदल दिए हैं अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

कुधर्मों ने अपनी [illegible] पर 'एकान्त' में सेंध लगा लिया है पर वे अपनी ओर से जनता को अपेक्षित सत्साहित्य सुलभ नहीं करा पाए। आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है। आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने आचार्य श्री एवं हमारे सान्निध्य में एक संकल्प लिया कि पूज्य आचार्य श्री की हीरक जयन्ती के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो और यह जन जन को सुलभ हो। फलतः ७५ आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन का निश्चय किया गया है क्योंकि सत्यसूर्य के तेजस्वी होने पर असत्य अन्धकार स्वतः ही पलायन कर जाता है।

आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु जिन दातारों ने अपनी स्वीकृति दी है एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से जिन जिन ने भी इस महदनुष्ठान में किसी भी प्रकार का सहयोग किया है उन सबको हमारा आशीर्वाद है।

उपाध्याय भरतसागर

ता - ११-७-१९९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'संकल्प'

'णाणं पयासं' सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन मेंमात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढन्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे हैं। ऊटपटाँग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही हैं। कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं हैं और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है—

> येनैते विदलन्ति वादि गिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वराः,
> भव्या येन विदन्ति निर्वृति पदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
> यद् बन्धुर्यन्मित्रं यदक्षयसुखस्याधारभूतं मतं,
> तल्लोकत्रयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद् विवेकश्रियम्॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि 'सङ्कल्प' के बिना सिद्धि नहीं मिलती। सन्मार्गदिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज की हीरक-जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह सङ्कल्प मैंने प० पू० गुरुदेव आचार्यश्री व उपाध्यायश्री के चरण-सान्निध्य में लिया। आचार्यश्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं० धर्मचन्द्र जी व प्रभा जी पाटनी रहे, इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में सिद्ध-श्रुत-आचार्यभक्तिपूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

सोनागिर, ११-७-९० **आर्यिका स्याद्वादमती**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ।। पद्मनंदी पं० ।।

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान् इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवल भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसलिए उस मुनियों का पूजन तो सरस्वती का पूजन है, तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गुन्थित वह महान् आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है।

युगप्रमुख आचार्यश्री के हीरक जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में हमें जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान युग में आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों को खोजकर विशेष सहयोग दिया, ऐसी पूज्या आर्यिका स्याद्वादमती माताजी के लिए मैं शत-शत नमोस्तु-वंदामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागीवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूँ।

ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वालों की मैं आभारी हूँ तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले वर्द्धमान मुद्रणालय की भी मैं आभारी हूँ। अन्त में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में सभी सहयोगियों के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सत्य जिनशासन की, जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें, ऐसी भावना करती हूँ।

ब्र० प्रभा पाटनी संघस्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व की ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिंसा' से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक हैं सन्मार्ग दिवाकर, चारित्रचूड़ामणि परमपूज्य आचार्यवर्य विमलसागरजी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रकाशन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जांय जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सकें।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी के प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परमपूज्य ज्ञान-दिवाकर, वाणीभूषण उपाध्यायरत्न भरतसागरजी महाराज एवं आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माता जी की प्रेरणा व निर्देशन में परमपूज्य आचार्य विमलसागरजी महाराज की 75वीं जन्म-जयन्ती पर भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद ने 75 ग्रन्थों के प्रकाशन के योजना के साथ ही भारत के विभिन्न नगरों में 75 धार्मिक शिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा है और 75 पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सहयोग करने वाले 75 विद्वानों का सम्मान एवं 75 युवा विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा 7775 युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग कराना आदि योजनाएं इस हीरक जयन्ती वर्ष में पूर्ण की जा रही हैं।

उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक/सम्पादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग दिया है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग कर पुण्यार्जन किया, उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए। एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को भी धन्यवाद देता हूँ। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग किया है।

ब्र० पं० धर्मचन्द शास्त्री

अध्यक्ष, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

तत्त्वानुशासन और उसका वैशिष्ट्य

डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी

अध्यक्ष जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द सं० वि०, वाराणसी

अध्यात्म-प्रधान जैनधर्म में ध्यान-योग और तप की साधना पद्धति का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्राकृत के जैन आगमों में साधना के सूत्र सर्वत्र देखने को मिल जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी पूज्यपाद, आचार्य शुभचन्द्र आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति अनेक जैनाचार्यों ने स्वतंत्र रूप से योग-ध्यान विषयक-विशाल साहित्य की रचना करके आध्यात्मिक-पथ पर अग्रसर जीवों का मार्गदर्शन किया। किन्तु पिछली कुछ शताब्दियों में जैनेतर धार्मिक-क्रियाकाण्डों के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धाओं से जैनधर्म भी अछूता न रहा और योग, ध्यान, सामायिक, तप आदि आध्यात्मिक ऊँचाई प्रदान करने वाले तत्त्वों की साधना जीवन में गौण हो गई और बाह्य क्रियाकाण्डों की प्रधानता हो गई। इसीलिए इनकी महत्ता से परिचित कराने के लिए हमारे आचार्यों ने बीच-बीच में स्वयं साधना द्वारा आदर्श उपस्थित करके आगमों के अनुसार तथा प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित पद्धति के अनुसार ग्रंथों की रचना करके इस साधना को जीवन प्रदान करते रहे।

इसी योग ध्यान साधना का पद्धति का प्रस्तुत महान् ग्रंथ **'तत्त्वानुशासन'** है। ई० सन् की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संस्कृत भाषा में रचित इस ग्रन्थ में मात्र २५९ श्लोक हैं किन्तु विद्वान् लेखक ने सम्पूर्ण साधना पद्धति के प्रमुख सभी विषयों को सरल भाषा में इस तरह प्रस्तुत किया है मानो 'गागर में सागर' भर दिया हो। यद्यपि इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। वस्तुतः प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के कर्तृत्व, रचना-काल आदि के सम्बन्ध में मतभेद कोई नयी बात नहीं है।

अनेक प्राचीन-प्रामाणिक उच्चकोटि के अनेक ग्रन्थ-रत्न तो आज भी अज्ञातकर्तृक के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। वस्तुतः अपने स्वानुभव एवं ज्ञान-प्रकाश से तिमिराच्छन्न सहस्रों जीवों की आत्मा को आलोकित करने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनीषियों के महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व आज भी अज्ञात ही हैं क्योंकि उनका उद्देश्य स्वानुभव द्वारा उपार्जित ज्ञान का प्रकाश साहित्य के माध्यम से अपनी भावी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का रहा है, न कि आत्मपरिचय देना, किन्तु उनकी इसी उच्च प्रवृत्ति ने हमें अपना गौरवशाली इतिहास क्रमबद्ध लिखने में कठिनाई उत्पन्न कर दी है।

आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस ग्रन्थ की अपनी विस्तृत प्रस्तावना में काफी विचार-विमर्श करके इसे रामसेनाचार्य की रचना सिद्ध किया तथा नागसेनाचार्य को इनका दीक्षागुरु माना।[1] किन्तु कुछ पाण्डुलिपियों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे नागसेनाचार्य की कृति माना। इसकी रचनाकाल ११वीं शती का उत्तरार्ध से लेकर १२वीं शती के पूर्वार्द्ध तक में कोई मतभेद नहीं है।

तत्त्वानुशासन के इस नवीन संस्करण के अनुवादक विद्वान् ने भी इसे नागसेनाचार्य की कृति माना है। जो भी हो मतभेद अपनी जगह हैं किन्तु इस ग्रन्थरत्न की श्रेष्ठता के विषय में सभी एकमत हैं। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस ग्रन्थ की सरल, प्रांजल और सहज-बोधगम्य भाषा और विषय प्रतिपादन की कुशलता की प्रशंसा करते हुए अपनी प्रस्तावना में लिखा है कि इसके अध्ययन से ऐसा मालूम होता है कि इसमें शब्द ही नहीं बोल रहे, शब्दों के भीतर ग्रन्थकार का हृदय (आत्मा) बोल रहा है और वह प्रतिपाद्य विषय में उनकी स्वतः की अनुभूति को सूचित करता है। स्वानुभूति से अनुप्राणित हुई उनकी काव्यशक्ति चमक उठी है और युक्ति पुरस्सर-प्रतिपादन शैली को चार चाँद लग गए हैं। इसी से यह ग्रन्थ अपने विषय की एक बड़ी ही सुन्दर-व्यवस्थित कृति बन गया है। इसे कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।[2] डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है कि यह ग्रंथरत्न अपने विषय का एक अद्वितीय प्रतिपादन है। और निश्चय ही यह अत्यन्त सरल भाषा में लिखा गया है।[3] अनेक परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में तत्त्वानुशासन का अनुकरण किया है तथा इनके पद्यों को उद्धृत भी किया। पं० आशाधरजी ने तो भगवती

---

१. तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र : सम्पादक एवं भाष्यकार पं० जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर"।

२. तत्त्वानुशासन रामसेनाचार्य प्रणीत, सम्पादक-भाष्यकार–पं० जुगलकिशोर।

३. वही प्रस्तावना पृ० ११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराधना पर अपनी मूलाराधना दर्पण टीका (गाथा १७०७) में अनेक पद्य उद्धृत करते हुए इन्हें 'तत्र भवन्तो भगवद्रामसेनपादाः'—कहकर ग्रंथकार रामसेन के वचनों को भगवान् रामसेन के वचन कहकर उद्धृत करना उन्हें 'भगवज्जिनसेनाचार्य जैसा गौरव प्रदान किया है।[१] इन सबसे इस ग्रन्थ की तथा ग्रन्थकार की प्रतिष्ठा ज्ञात हो जाती है।

इस महान् ग्रन्थ के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि ग्रन्थकर्ता अपने अनेक पूर्वाचार्यों से भी प्रभावित थे। आचार्य अमृतचन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य का आपने गहन अध्ययन अवश्य किया होगा। क्योंकि अमृतचन्द्राचार्य द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द रचित समयसार आदि ग्रन्थों पर लिखी गई टीकाओं और इनके तत्त्वार्थसार का तत्त्वानुशासन पर मात्र गहरा प्रभाव ही नहीं अपितु निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों का सन्तुलन और सुमेल इस ग्रन्थ में भी स्पष्ट है।

तत्त्वानुशासन के कर्ता ने इसमें प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता और अपनी लघुता प्रगट करते हुए लिखा है—

यद्यप्यत्यन्त-गम्भीरमभूमिर्मादृशामिदम् ।
प्रावर्तिषि तथाप्यत्र ध्यान-भक्ति-प्रचोदितः ॥ २५३ ॥

अर्थात् यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य ध्यान का विषय अत्यन्त गम्भीर है, तो भी ध्यान-भक्ति से प्रेरित हुआ मैं इसमें प्रवृत्त हुआ हूँ। आगे के पद्यों में कहा है—इस रचना में छद्मस्थ के कारण अर्थ तथा शब्दों के प्रयोग में जो कुछ स्खलन हुआ हो उसके लिए श्रुतदेवता मुझ भक्ति प्रधान (ग्रन्थकर्ता) को क्षमा करें। मेरी मंगलकामनायें हैं कि वस्तुओं के याथात्म्य (तत्त्व) का विज्ञान, श्रद्धान और ध्यानरूप सम्पदायें भव्य-जीवों को अपनी स्वरूपोपलब्धि के लिए कारणीभूत होवें।

आध्यात्मिक विद्या का महनीय काव्य :

सहज, सरल और बोधगम्य पद्य शैली में आध्यात्मिक जैसे दुरूह विषय को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाली कृति को आध्यात्मिककाव्य कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। इस ग्रन्थ के अध्ययन के बाद तो कोई भी सुधी पाठक इसका अनुभव स्वयं कर सकता है। यहाँ तत्त्वानुशासन की विषयगत प्रमुख विशेषतायें प्रस्तुत हैं—

ग्रन्थकार आचार्य ने मंगलाचरण में वंदना के पश्चात् सर्वज्ञ की

---

१. मुख्तार युगवीर, प्रकाशक वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली १९६३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक सत्ता तथा हेय-उपादेय तत्त्व बतलाये हैं। बंध और उसके कारणों को हेय तथा मोक्ष एवं उसके कारणों को उपादेय तत्त्व बतलाने के बाद हेय रूप मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र जो कि बंध के कारण हैं—इनका भेद-प्रभेद सहित प्रतिपादन किया गया है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की प्रमुख पात्रता है अहंकार, ममकार का विसर्जन। जबतक ये दोष हैं व्यक्ति अपने आपको कितना ही ऊँचा मानता-समझता हो, उसने इस क्षेत्र की प्रारम्भिक भूमिका में भी कदम नहीं रखा है। अतः प्रत्येक साधक को सर्वप्रथम इन दोषों को पहचानकर इनका त्याग अवश्य करना चाहिए। इसीलिए ग्रन्थकार ने हेय-उपादेय तत्त्व प्रतिपादन के बाद सर्वप्रथम ममकार और अहंकार के लक्षण उदाहरण सहित बतलाये हैं। पूज्यनीया अर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी ने इन्हीं लक्षण प्रसंगों में तथा अन्य अनेक स्थलों में छहढाला और बृहद्द्रव्यसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थों के तद्विषयक उद्धरण देकर इन विषयों का और भी अच्छा प्रतिपादन किया है।

प्रत्येक साधक की साधना का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति होता है। जैनधर्म में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। ग्रन्थकार ने इनका स्वरूप प्रतिपादन करने के बाद प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय पर आते हुए कहा है—

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाऽप्यपास्याऽऽलस्यम् ॥ ३३ ॥

अर्थात् 'चूंकि निश्चय और व्यवहार रूप दोनों प्रकार का निर्दोष मुक्ति हेतु मोक्षमार्ग ध्यान की साधना में प्राप्त होता है। अतः हे सुधीजनो! आलस्य का त्याग करके सतत् ध्यान का अभ्यास करो। ध्यान के चार भेदों में ग्रन्थकार ने आर्त्त और रौद्र ध्यान को दुर्ध्यान एवं त्याज्य तथा धर्म्य एवं शुक्लध्यान को सद्ध्यान तथा इन्हें उपादेय बतलाते हुए इनका विस्तृत प्रतिपादन किया है।

वैदिक परम्परा में प्रसिद्ध महर्षि पतञ्जलि के योग-दर्शन में वर्णित यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-रूप अष्टाङ्गयोग सम्बन्धी मान्यता से हटकर तत्त्वानुशासनकार ने अष्टाङ्गयोग की नवीन परम्परा का सूत्रपात करके योग साधना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अष्टांगयोग इस तरह बतलाये गये हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना ॥ ३७ ॥

१. **ध्याता**—इन्द्रिय और मन का निग्रह करके ध्यान करने वाला, २. **ध्यान**—एकाग्र चिन्तन रूप क्रिया, ३. **ध्यान का फल**—निर्जरा और संवर, ४. **ध्येय**—यथावस्थित वस्तु अर्थात् ध्यान योग्य पदार्थ, ५. **यस्य**—जिस पदार्थ का ध्यान करना है, ६. **यत्र**—जहाँ ध्यान करना है, ७. **यदा**—जिस समय ध्यान करना है वह काल विशेष तथा, ८. **यथा**—जिस रीति से ध्यान करना है। इनमें अन्तिम चार अंग क्रमशः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सूचक हैं। ग्रन्थकार ने कहा भी है कि जिस देश, काल तथा अवस्था (आसन-मुद्रा आदि) में ध्यान की निर्विघ्नसिद्धि होती है, वही ध्यान के लिए ग्राह्य क्षेत्र, काल तथा अवस्था है। (श्लोक ३९) आगे ग्रन्थकार ने इन अंगों का सांगोपांग विवेचन किया है, जिनमें ध्यान सम्बन्धी अनेक विषयों का समावेश किया गया है।

ग्रन्थकार ने आगे ध्यान को एकाग्र और ज्ञान को व्यग्र (विविध मुखों अथवा आलम्बनों को लिए हुए) बतलाते हुए कहा है कि व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिए ही ध्यान के लक्षण में 'एकाग्र' का ग्रहण किया है—

एकाग्र-ग्रहणं चाऽत्र वैयग्र्य विनिवृत्तये।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥

ध्यान साधना में मन की चंचलता का निरोध परम आवश्यक होता है, बिना मन को जीते साधना की कोई भी क्रिया व्यर्थ होती है। अतः मन को जीतने के लिए ग्रन्थकार ने महत्त्वपूर्ण उपाय बतलाते हुए कहा है—

संचिन्तयन्नुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियाऽर्थ-पराङ्मुखः ॥ ७९ ॥

अर्थात् जो साधक सदा अनुप्रेक्षाओं (अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं) का अच्छी तरह चिन्तन करता है, स्वाध्याय में उद्यमी और इन्द्रिय-विषयों से प्रायः मुख मोड़े रहता है वह अवश्य ही मन को जीतता है।

आगे ग्रन्थकार स्वाध्याय की महत्ता बतलाते हुए कहा है कि स्वाध्याय से ध्यान को अभ्यास में लावे और ध्यान से स्वाध्याय को चरितार्थ करे। ध्यान और स्वाध्याय दोनों की सम्पत्ति-सम्प्राप्ति से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमात्मा प्रकाशित होता है। आगे ग्रन्थकार ने ध्यान के भेद-प्रभेदों एवं अष्टांगयोग का विस्तृत विवेचन किया है। आत्मा के ध्येय की ही प्रमुखता क्यों दी जाती है? ऐसा प्रश्न करने वालों को समझाते हुए आचार्य कहते हैं—

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः॥ ११८॥

अर्थात् ज्ञाता होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम (सर्वाधिकध्येय) है।

इस प्रकार ध्यान का सांगोपाङ्ग विवेचन वाला सम्प्रदाय निरपेक्ष एक महान् ग्रन्थ है। वस्तुतः अध्यात्म कभी किसी सम्प्रदाय का विषय नहीं हो सकता। इसे तो व्यक्ति अपनी परम्पराओं से जोड़ लेता है। किन्तु वास्तव में यह तो आत्मोत्कर्ष का वह सार्वभौमिक और शाश्वत मार्ग है जिसमें सभी जीव समभाव से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करता है और अन्ततः उसे प्राप्त कर लेता है। अन्त्य मंगल में आचार्य ने जिस प्रकार सभी की अपूर्व मंगल कामना अपने ग्रन्थ के अन्त में की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है—

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगद् दुग्धाम्बुराशाविव,
ज्ञान ज्योतिष च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुवः स्वस्त्रयी।
शब्द-ज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासन्त्यमी,
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायाऽस्तुः नः॥ २५९॥

अर्थात् जिसकी देह-ज्योति में जगत् ऐसे डूबा रहता है जैसे कोई क्षीरसागर में स्नान कर रहा हो; जिसका ज्ञान-ज्योति में भूः, भुवः और स्वः अर्थात् क्रमशः अधो, मध्य और स्वर्गलोक की त्रयी अत्यन्त स्पष्ट प्रकाशमान हो रही है, दर्पण के समान जिनकी शब्द ज्योति (वाणी के प्रकाश) में स्व-पर रूप सभी पदार्थ झलक रहे हैं, जो अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी से युक्त और देवों द्वारा वन्दनीय हैं—ऐसे जिनेन्द्रदेव हम लोगों को देहज्योति, ज्ञानज्योति और शब्दज्योति रूप ज्योतित्रय प्रदान करने वाले बनें।

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत संस्करण में अनुवादक विद्वान् डॉ० श्रेयांसकुमार जैन ने जहाँ अपनी प्रतिभा-कौशल का अच्छा परिचय दिया है वहीं पूज्य १०५ उपाध्याय भरतसागरजी महाराज ने ध्यान-योग तथा साधना से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धित अनेक प्राचीन अर्वाचीन उद्धरण तथा तद्विषयक चक्र, चित्र-आदि का इस ग्रन्थ में संयोजन करके संपादन किया है।

प्रभावक आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज, ज्ञानयोगी पूज्य उपाध्याय भरतसागरजी एवं पूज्य आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने अति उत्कृष्ट एवं दुर्लभ अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना को साकार करके वह उत्कृष्ट कार्य कर रहे हैं उससे वर्तमान पीढ़ी और आने वाली पीढ़ी दीर्घकाल तक कृतज्ञ रहेगी। इस कार्य के लिए समाज चिरकाल तक इस श्रमण संघ की आभारी रहेगी। इस निमित्त अनुवादक, प्रेरक, प्रकाशक एवं अन्य सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार में सहयोगी सभी और पं० ब्र० धर्मचन्द्रजी तथा परमविदुषी ब्र० प्रभा पाटनी जी आदि साधुवाद के पात्र हैं। आशा है भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् आगे भी जैन साहित्य और संस्कृति की सेवा के महान् कार्य करते हुए इनके संरक्षण हेतु प्रयत्नशील रहेगी।

१५ अगस्त, १९९३
अनेकान्त भवनम्
वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

१. मंगलाचरण	....	१
२. सर्वज्ञ की वास्तविक सत्ता	...	२
३. हेय एवं उपादेय द्विविध तत्त्व	....	२
४. बन्ध एवं उसके कारण हेय	....	३
५. मोक्ष एवं उसके कारण उपादेय	....	४
६. बन्ध का स्वरूप और उसके भेद	....	५
७. बन्ध का कार्य संसार	....	६
८. मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र बन्ध के कारण	....	७
९. मिथ्यादर्शन का स्वरूप	....	८
१०. मिथ्याज्ञान का स्वरूप और तीन भेद	....	९
११. मिथ्याचारित्र का स्वरूप	....	९
१२. बंध का प्रमुख कारण मिथ्यादर्शन	....	१०
१३. मिथ्याज्ञान मंत्री एवं ममकार अहंकार सेनापति	....	१०
१४. ममकार का लक्षण	....	११
१५. अहंकार का लक्षण	....	१२
१६. मोह का घेरा	....	१३
१७. बंध के कारणों का विनाश	....	१७
१८. बन्ध कारणों के अभाव में मोक्ष	....	१८
१९. मुक्ति के कारण	....	१९
२०. सम्यग्दर्शन का स्वरूप	....	२०
२१. सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	....	२१
२२. सम्यक्चारित्र का स्वरूप	....	२१
२३. मोक्ष हेतु में साध्यसाधनता	....	२२
२४. निश्चयनय व व्यवहारनय	....	२३
२५. व्यवहार मोक्षमार्ग	....	२४
२६. निश्चय मोक्षमार्ग	....	२५
२७. ध्यान के अभ्यास का उपदेश	....	२६
२८. धर्म व शुक्ल सद्ध्यान	....	२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. शुक्लध्यान के स्वामी २८
३०. धर्म्यध्यान के कथन की प्रतिज्ञा २९
३१. योगी को ध्यातव्य बातें २९
३२. ध्याता ध्येय ध्यान व ध्यान का फल ३०
३३. देश-काल-अवस्था-रीति ३०
३४. उक्त आठ प्रकार से ध्यान के वर्णन की प्रतिज्ञा ३१
३५. ध्याता का स्वरूप ३२
३६. गुणस्थान की अपेक्षा धर्म्यध्यान के स्वामी ३३
३७. धर्मध्यान के भेद ३४
३८. सामग्री के भेद से ध्याता व ध्यान के भेद ३४
३९. उत्तम-मध्यम-जघन्य ध्यान ३५
४०. अल्पश्रुतज्ञानी भी धर्म्यध्यान का धारक ३६
४१. धर्म्यध्यान का प्रथम लक्षण ३६
४२. धर्म्यध्यान का द्वितीय लक्षण ३७
४३. धर्म्य लक्षण ३८
४४. धर्म्यध्यान का लक्षण ३८
४५. धर्म्यध्यान का चतुर्थ लक्षण ३९
४६. ध्यान संवर व निर्जरा का हेतु ३९
४७. एकाग्र चिन्तारोध पद का अर्थ ४०
४८. ध्यान का लक्षण ४०
४९. व्यग्रता अज्ञान और एकाग्रता ध्यान ४१
५०, प्रसंख्यान, समाधि और ध्यान की एकता ४१
५१. आत्मा को अग्र कहने का कारण ४२
५२. चिन्ताओं के अभावरूप ध्यान और ज्ञानमय आत्मा एक ही ४२
५३. ध्यान व ध्यान का फल ४२
५४. व्याकरणशास्त्र से ध्यान का अर्थ ४३
५५. श्रुतज्ञानरूप स्थिर मन ही वास्तविक ध्यान ४३
५६. ज्ञान और आत्मा की अभिन्नता ४३
५७. द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा ध्याता और ध्यान की अभिन्नता ४४
५८. कर्म और अधिकरण दोनों ध्यान ४४
५९. सन्तानवर्तिनी स्थिर बुद्धि ध्यान ४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. षट्कारकमयी आत्मा का नाम ही ध्यान है	....	४५
६१. ध्यान की सामग्री	....	४६
६२. मन को जीत लेने पर इन्द्रियों की विजय	....	४६
६३. ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इन्द्रियों की विजय	....	४७
६४. चंचल मन का नियंत्रण	....	४८
६५. मन को जीतने के उपाय	....	४९
६६. पञ्चनमस्कार मंत्र जाप एवं शास्त्रों का पठन-पाठन स्वाध्याय	....	५०
६७. ध्यान और स्वाध्याय से परमात्मा का ज्ञान	....	५१
६८. पञ्चमकाल में ध्यान न मानने वाले अज्ञानी	....	५२
७०. पञ्चमकाल में शुक्लध्यान का निषेध श्रेणी के पूर्व धर्मध्यान का कथन	....	५२
७१. वज्रवृषभनाराचसंहननी के ही ध्यान का कथन शुक्लध्यान की अपेक्षा से	....	५३
७२. शक्त्यनुसार धर्म्यध्यान करणीय	....	५४
७३. शक्त्यनुसार तप धारणीय	....	५५
७४. गुरूपदेश से ध्यानाभ्यास	....	५६
७५. अभ्यास से ध्यान की स्थिरता	....	५६
७६. परिकर्म के आश्रय से ध्यानकरणीय	....	५६
७७. ध्यान करने योग्य स्थान-काल विधि व पदार्थ	....	५७
७८. निश्चय व व्यवहार ध्यान	....	५८
७९. निश्चय ध्यान आत्मा से अभिन्न और व्यवहार ध्यान भिन्न	....	५८
८०. ध्येय के भेद	....	५९
८१. ध्येय के भेदों का स्वरूप	....	६०
८२. नामध्येय का स्वरूप	....	७७
८३. असिआउसा का ध्यान	....	७७
८४. अ इ उ ए ओ मंत्रों का ध्यान	....	७७
८५. सप्ताक्षरों का ध्यान	....	७८
८६. अरहंत नाम का ध्यान	....	७९
८७. अ से ह पर्यन्त अक्षरों का ध्यान	....	८०
८८. स्थापना ध्येय का स्वरूप	....	८५
८९. द्रव्य नामक ध्येय का स्वरूप	....	८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९०. भाव ध्येय का स्वरूप ८७
९१. षड्विध द्रव्यों में जीव द्रव्य उत्तम ध्यान करने योग्य है ८८
९२. जीव की उत्तम ध्येयता का कारण ८८
९३. ध्येय सिद्धों का स्वरूप ९३
९४. ध्येय अरहन्तों का स्वरूप ९४
९५. अरहंतदेव के ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति ९७
९६. ध्येय आचार्य उपाध्याय साधु का स्वरूप ९८
९७. ध्येय पदार्थ चतुर्विध अथवा अन्यापेक्षा द्विविध १००
९८. भाव ध्येय १००
९९. ध्यान में ध्येय की स्फुटता १०२
१००. पिण्डस्थ ध्येय का स्वरूप १०२
१०१. ध्याता ही परमात्मा १०२
१०३. सब ध्येय माध्यस्थ १०३
१०४. माध्यस्थ के पर्यायवाची नाम १०३
१०४. परमेष्ठियों के ध्यान से सब ध्यान सिद्ध १०३
१०५. निश्चयनय की अपेक्षा स्वावलंबन ध्यान के कथन की प्रतिज्ञा १०४
१०६. स्व को जाने-देखे-श्रद्धा करे १०५
१०७. डरो मत श्रुतज्ञान की भावना करो १०७
१०८. आत्मभावना करो १०८
१०९. आत्मभावना कैसे करें ? १०८
११०. चिन्ता का अभाव तुच्छ भाव नहीं अपितु स्वसंवेदन रूप ११२
१११. स्वसंवेदन का स्वरूप ११३
११२. स्वसंवेदन की ज्ञप्तिरूपता ११३
११३. शून्याशून्य स्वभाव आत्मा को आत्मा के द्वारा प्राप्ति ११७
११४. स्वात्मा ही नैरात्माद्वैत दर्शन ११७
११५. स्वात्मा ही नैर्जगत्य ११७
११६. नैरात्म्य दर्शन ११८
११७. द्वैताद्वैत दृष्टि ११८
११८. आत्मदर्शन का फल ११८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११९. धर्म्यशुक्लध्यानों में भेदाभेद ११९
१२०. स्वात्मदर्शन अति दुःसाध्य १२०
१२१. (१) पार्थिव धारणा १२१
१२२. (२) आग्नेयी धारणा १२१
१२३. (३) मारुती धारणा १२२
१२४. (४) वारुणी धारणा १२३
१२५. (५) तत्वरूपवती धारणा १२३
१२६. एक शंका १२३
१२७. शंका का समाधान १२३
१२८. दूसरी तरह से समाधान १२४
१२९. ध्यान का फल १२५
१३०. मुक्तात्माओं की लोकाग्र में स्थिति १३३
१३१. मुक्त होने पर संकोच विस्तार नहीं १३४
१३२. मुक्त जीवों का अन्तिम शरीर से कुछ
कम आकार १३५
१३३. मुक्तावस्था में जीव का अभाव नहीं १३५
१३४. जीव का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक १३६
१३५. मुक्तात्मा स्वस्वभाव में स्थित १३७
१३६. त्रिकाल त्रिलोक के ज्ञाता होकर भी उदासीन १३७
१३७. सिद्धों को अनन्तसुख १३८
१३८. सिद्धसुख विषय एक शंका १३८
१३९. समाधान १३९
१४०. मोक्ष हो उत्तम पुरुषार्थ १४०
१४१. एकांतवादियों के बंध और मोक्ष नहीं १४१
१४२. ग्रंथकार की लघुता १४२
१४३. ग्रंथकार की क्षमा याचना १४२
१४४. ग्रंथकार की मंगलकामना १४३
१४५. श्लोकानुक्रमणिका १४७

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वानुशासन

• • •

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री वीतरागाय नमः

श्रीमन्नागसेन मुनि विरचितम्

तत्त्वानुशासनम्

मंगलाचरण

सिद्धस्वार्थानशेषार्थस्वरूपस्योपदेशकान् ।
परापरगुरून्नत्वा वक्ष्ये तत्त्वानुशासनम् ॥ १ ॥

अर्थ—कर्म-मल-रहित, शुद्ध, आत्मस्वरूप रूप स्वार्थ को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है तथा सम्पूर्ण पदार्थों के स्वरूप का जिनने उपदेश दिया है, ऐसे जो पर तथा अपर गुरुवृन्द हैं, उनको नमन कर मैं (नागसेन मुनि) तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ को कहता हूँ ॥ १ ॥

(१) इस कारिका में श्री नागसेन मुनि ने सर्व प्रथम गुरुओं को प्रणाम करके तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ को प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा की है। गुरुओं के दो विशेषण हैं—सिद्धस्वार्थ एवं अशेषार्थोपदेशक। सिद्धस्वार्थ से शुद्ध आत्मा के अनुभव करने वालों तथा अशेषार्थोपदेशक से सर्वतत्त्वज्ञों की ओर संकेत है। परापर गुरु कहने से प्राचीन एवं अर्वाचीन परम्परागत सभी गुरुओं के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति की गई है।

(२) सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इस नियम के अनुसार शास्त्र के प्रारम्भ में अनुबन्ध चतुष्टय का उल्लेख आवश्यक माना गया है। प्रकृत ग्रन्थ में तत्त्वानुशासन अभिधेय है, ग्रन्थ और अभिधेय का वाच्यवाचक सम्बन्ध है, शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति प्रयोजन है और मुमुक्षु इस ग्रन्थ का अधिकारी है।

(३) भावसहित नमस्कार करने से नमस्कारार्ह के गुणों की उपलब्धि होती है तथा भावों की शुद्धि हो जाती है। पूज्य के पुण्यगुणों की स्मृति से चित्त निष्पाप हो जाता है। समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

—स्वयंभूस्तोत्र, ५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञ की वास्तविक सत्ता

अस्ति वास्तवसर्वज्ञः सर्वगीर्वाणवन्दितः ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतस्पष्टानन्तचतुष्टयः ॥ २ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणी आदि चार घातिया कर्मों के नाश से स्पष्टरूपेण जिसे अनन्त चतुष्टयों की उद्भूति (प्रगटता) हो गई है तथा जो इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं द्वारा वन्दनीय है, ऐसा कल्पित नहीं, अपितु वास्तविक सर्वज्ञ पाया जाता है ॥ २ ॥

विशेष—(१) यतः दूरवर्ती, सूक्ष्म एवं व्यवहित पदार्थों का कथन सर्वज्ञ के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए ग्रन्थकार ने यहाँ सर्वज्ञत्व एवं उसके कारण तथा तज्जन्य कार्य का कथन किया है। घातिकर्मों का नाश सर्वज्ञत्व का हेतु तथा अनन्तचतुष्टय का प्रकटीकरण सर्वज्ञत्व का कार्य है।

(२) अष्टविध कर्मों में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म हैं। आत्मा के अनुजीवी गुणों का घात करने के कारण इन्हें घातिकर्म कहा गया है। इनके अभाव के बिना सर्वज्ञता संभव नहीं है तथा इनके अभाव हो जाने पर सर्वज्ञता तत्काल अवश्यंभावी है।

(३) सर्वज्ञता प्राप्ति के साथ ही जीव को अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है। अनन्तचतुष्टय में अनन्त शब्द असीमितता एवं सर्वोत्कृष्टता का सूचक है।

(४) 'सर्वगीर्वाणवन्दितः' कहने से सर्वज्ञ की इन्द्रादि सभी देवताओं द्वारा पूज्यता का कथन अभीष्ट है।

हेय एवं उपादेय द्विविध तत्त्व

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे ।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाऽभ्यधादसौ ॥ ३ ॥

अर्थ—जन्म, जरा, मरण रूप तीन संताप से संतप्त भव्य जीवों को मोक्ष-रूप सुख की प्राप्ति के लिए, उस सर्वज्ञ देव ने हेय अर्थात् छोड़ने योग्य और उपादेय अर्थात् अपनाने योग्य, रूप दो प्रकार के तत्त्वों का उपदेश दिया ॥ ३ ॥

विशेष—(१) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के तापों से संसारी प्राणी संतप्त है। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है। मनुष्य, पशु-पक्षी, सरीसृप, विषवृक्ष आदि प्राणियों से होने वाला संताप आधिभौतिक तथा देवयोनि विशेष एवं ग्रहावेश आदि से होने वाला संताप आधिदैविक कहलाता है। शारीरिक एवं मानसिक सन्ताप को एक मानकर यहाँ ताप की त्रिविधता कही गई है।

(२) जिस आत्मा में रत्नत्रय के प्रकट होने की एवं एतावता मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता पाई जाती हो, उसे भव्य कहते हैं।

(३) हेय का अर्थ है छोड़ने योग्य और उपादेय का अर्थ है ग्रहण करने योग्य। परमार्थ की दृष्टि से बन्ध को हेय और मुक्ति को उपादेय माना गया है। शास्त्र का वास्तविक उद्देश्य हेय और उपादेय का विवेक है। क्षत्रचूड़ामणि में वादीभसिंहसूरि ने कहा है—

हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद्व्यर्थः श्रमः श्रुतौ।
किं व्रीहिखण्डनायासैस्तण्डुलानामसंभवे ॥ २।४४

अर्थात् हेय एवं उपादेय का यदि विशेष ज्ञान नहीं है तो शास्त्र में परिश्रम करना निरर्थक है। चावलों के न रहने पर धान्य कूटने के परिश्रम का क्या लाभ है?

इसी कारण ग्रन्थकार ने हेयोपादेय द्विविध तत्त्व का उपदेश सर्वज्ञ द्वारा कथित एवं भव्य जीवों के लिए त्रिविध ताप को नष्ट करके मोक्ष को प्रदान करने वाला कहा है।

बन्ध एवं उसके कारण हेय

बन्धो निबन्धनं चास्य हेयमित्युपदर्शितम्।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयम् ॥ ४ ॥

अर्थ—बन्ध और इसके कारण को हेय कहा गया है। क्योंकि ये दोनों सुख एवं दुःख के बीज (मूल कारण) हैं, इसलिए हेय हैं ॥ ४ ॥

विशेष—(१) आगम के अनुसार २३ प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं से सम्पूर्ण लोक परिपूर्ण है। जीव जब कषाय से युक्त होता है तथा योग के द्वारा हलन-चलन करता है तो वह सभी ओर से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इसे ही बन्ध कहते हैं। कहा भी है—

'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।
—तत्त्वार्थसूत्र ८/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं। मिथ्यादर्शन अगृहीत एवं गृहीत दो प्रकार का है। गृहीत मिथ्यादर्शन के एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान ये पाँच भेद होते हैं। षट्काय जीवों की हिंसा एवं ५ इन्द्रिय और मन के विषयों में आसक्ति रूप अविरति १२ प्रकार की होती है। कषायों के उदय में कर्तव्य के प्रति अनादर भाव को प्रमाद कहते हैं। अनन्तानुबंधी आदि क्रोधादि चतुष्क एवं नौ नोकषाय ये २५ कषायें कही गई हैं, क्योंकि ये आत्मा को दुःख देती हैं। योग आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन है, जो मन-वचन-काय के निमित्त से होता है।

(३) परमार्थ में सुख एवं दुःख दोनों ही प्रकार के बन्ध संसरण के निमित्त हैं। अतः उन्हें और उनके कारणों को हेय कहा गया है।

सुख किसे कहते हैं ? (१) स्वभावप्रतिकूल्याभावहेतुकं सौख्यं (पं०का०) स्वभाव के प्रतिकूल विभाव भावों का नाश होने से प्राप्त आत्मीक शान्त-रस सुख है। (२) अनाकुलत्वैक लक्षणं सौख्यम् (प्र० भा०) सुख का लक्षण अनाकुलता है। (३) 'स्वभाव प्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्'–स्वभाव प्रतिघात का अभाव सो सुख है। (४) "तत्सुखं यत्रनासुखम्" सुख वही है जहाँ दुख नहीं है। (आ० शा०)

दुख—(१) "पीड़ा लक्षण परिणामो दुखं"—पीड़ारूप आत्मा का परिणाम दुख है (स० सि०)। (२) अणिट्ठत्थ समागमो-इट्ठत्थवियोगो च दुखं णाम—अनिष्ट अर्थ के समागम और इष्ट अर्थ के वियोग का नाम दुख है। (ध०।१३)

मोक्ष एवं उसके कारण उपादेय

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम् ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ।। ५ ।।

अर्थ—मोक्ष और उसके कारण इस जीव के लिए ग्रहण करने योग्य हैं ऐसा उस सर्वज्ञ देव के द्वारा कहा गया है। चूँकि इनसे (मोक्ष तथा उसके कारण) आत्मीक सुख प्रगट होता है उसकी अनुभूति होती है अतः ये उपादेय हैं ॥ ५ ॥

विशेष—(१) मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के हेतुओं का अभाव हो जाने से जब नये कर्मों का बन्ध रुक जाता है तथा तप आदि के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है। तब आत्मा सभी कर्मबन्धनों से मुक्त हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के कारण हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' —तत्त्वार्थसूत्र १/१

पण्डित प्रवर दौलतरामजी ने मोक्षमार्ग में रत होने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमाँहि न तातैं शिवमग लाग्यौ चहिये॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिव मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो॥
—छहढाला ३/१

(२) योगसूत्रभाष्य की निम्नलिखित पंक्तियों में तत्त्वानुशासन के चतुर्थ एवं पञ्चम श्लोकों के भावों को ही प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किया गया है—

"यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति।" —योगसूत्रभाष्य २/१५

बन्ध का स्वरूप और उसके भेद

तत्र बन्धः स हेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परम्।
जीवकर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः॥ ६॥

अर्थ—उनमें (हेयोपादेय तत्त्वों में) से मिथ्यादर्शनादिक कारणों के द्वारा जो जीव और कर्मों के प्रदेशों का आपस में संश्लेष (मिल जाना) हो जाना है सो बन्ध है। वह चार भेद (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश) वाला है॥ ६॥

विशेष—(१) अपने कारणों के माध्यम से जहाँ पर जीव एवं कर्मों के प्रदेश आपस में मिल जाते हैं, उसे ही बन्ध कहते हैं। नयचक्र में कहा गया है— 'कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं कसायादो।'—नयचक्र १५/३

राजवार्तिक में बन्ध का शाब्दिक व्याख्यान करते हुए कहा गया है कि जो बँधे या जिसके द्वारा बाँधा जाय अथवा बन्धनमात्र को बन्ध कहते हैं— 'बध्नाति, बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन बन्धमात्रं वा बन्धः।'
—राजवार्तिक ५/२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) बन्ध के चार भेद हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। प्रकृतिबन्ध के आठ भेद कहे गये हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की स्थिति तीस कोटाकोटि सागर, मोहनीय की सत्तर कोटाकोटि सागर, नाम एवं गोत्र कर्मों की बीस कोटाकोटि सागर तथा आयु कर्म की तैंतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति मानी गई है। कर्मों की स्थिति का वर्णन ही स्थितिबन्ध के अन्तर्गत आता है। अनुभाग का अर्थ कर्मों की फलदान शक्ति है। कर्मों में जो तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति पड़ती है उसे अनुभाग बन्ध कहते हैं तथा ज्ञानावरण आदि कर्म रूप पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

प्रकृतिबन्ध एवं प्रदेशबन्ध योगजन्य हैं तथा स्थिति एवं अनुभाग-बन्ध कषायजन्य हैं। योग एवं कषाय की तीव्रता मन्दता से बन्धों में अन्तर हो जाता है।

बन्ध का कार्य संसार

बन्धस्य कार्यः संसारः सर्वदुःखप्रदोऽङ्गिनाम् ।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविधः स्मृतः ॥ ७ ॥

अर्थ—प्राणियों को सभी प्रकार के दुःखों को देने वाला संसार बन्ध का कार्य है। वह संसार द्रव्य, क्षेत्र आदि भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है ॥ ७ ॥

विशेष—(१) संसार का परिभ्रमण बन्ध का कार्य है। मिथ्यात्व आदि के कारण जब कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाह हो जाते हैं तब कर्मबद्ध आत्मा परतन्त्र होकर उसी प्रकार अपना इष्ट नहीं कर पाता है तथा भवभ्रमण करता हुआ शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को भोगता है, जिस प्रकार बेड़ी आदि से बद्ध व्यक्ति पराधीन होकर इच्छानुसार अभीष्ट स्थान में भ्रमण नहीं कर पाता है एवं शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को भोगता है। वस्तुतः संसार बन्ध का कार्य है।

(२) त्यागने योग्य परपदार्थ के ग्रहण करने को बन्ध कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थसार में कहते हैं—

'हेयस्यादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः ।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवतत्त्व निश्चय से तो द्रव्यरूप शुद्ध है किन्तु कर्मबन्ध की अपेक्षा अशुद्ध है। अशुद्ध अवस्था में ही चतुर्गति में परिभ्रमण होता है। अतएव शुद्ध दशा प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिये। किन्तु शुद्ध दशा की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती है जब तक जीव वीतराग भावों को प्राप्त नहीं करता है। क्योंकि यह जीव अपने ही रागादि भावों से बन्धन को प्राप्त होता है और तज्जन्य संसार में सभी प्रकार के दुःख भोगता रहता है।

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र बंध के कारण

स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥ ८ ॥

अर्थ—संक्षेप से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र ये तीन ही बन्ध के कारण हैं। अविरति आदि अन्य बन्ध के कारण तो इन्हीं के विस्तार हैं, अर्थात् इन्हीं के भेद-प्रभेद हैं ॥ ८ ॥

विशेष—(१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष के मार्ग होने से धर्म कहे गये हैं तथा मिथ्यादर्शन आदि संसार बढ़ाने वाले होने से बन्ध के कारण कहे गये हैं। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि के उत्तर, उत्तरोत्तर अनेक भेद होते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि के भी समझना चाहिये। मिथ्यादर्शनादि तीनों का सद्भाव एक साथ पाया जाता है। क्योंकि यदि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय है तो उसका ज्ञान और चारित्र भी नियम से मिथ्या ही होता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥

इसका भावार्थ लिखते हुए पं० सदासुखदास जी ने कहा है—"जो आपका अर अन्य द्रव्यनि का सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण सो तो संसार परिभ्रमणतैं छुड़ाय उत्तम सुखमें धारण करने वाला धर्म है। अर आपका अर अन्य द्रव्यनि का असत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण संसार के घोर अनंत दुःखनिमें डुबोवने वाले हैं, ऐसे भगवान् वीतराग कहैं हैं।"

(२) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र की समन्वित संज्ञा मिथ्यात्व है, जो पाँच प्रकार का होता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) अनेक स्वभावात्मक वस्तु को एक स्वभाव मानना एकान्त-मिथ्यात्व है।

(ख) अधर्म में धर्मरूप श्रद्धान का होना विपरीत मिथ्यात्व है।

(ग) प्रत्येक रागी-वीतरागी देवादि की विनय करना विनय मिथ्यात्व है।

(घ) तत्त्वों के स्वरूप में सन्देह बना रहना संशय मिथ्यात्व है।

(ङ) मूढभाव से तत्त्वज्ञान का उद्यम न करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

मिथ्यादर्शन का स्वरूप

अन्यथावस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणाम् ।
दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से भिन्न प्रकार से विद्यमान पदार्थों में मनुष्यों की विपरीत रुचि या श्रद्धा का मोह अथवा मिथ्यादर्शन कहते हैं ॥ ९ ॥

विशेष—(१) जैसा पदार्थ का यथार्थ स्वरूप है, उसे वैसा न मानना और जैसा पदार्थ का वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसे वैसा मानना मिथ्या-दर्शन कहलाता है। प्राणी की यह विपरीत रुचि दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होती है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु एवं सच्चे धर्म में दोष लगाने के कारण दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है। यह दर्शनमोहनीय ही अनन्त संसार का कारण है।

दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण—

केवलिश्रुतसंघदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय के आस्रव का कारण है।

अवर्णवाद—गुणवानों को झूठे दोष लगाना सो अवर्णवाद है।

केवली अवर्णवाद—केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं, इत्यादि कहना केवली का अवर्णवाद है।

श्रुत का अवर्णवाद—शास्त्र में मांस भक्षण करना लिखा है ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

संघ का अवर्णवाद—साधु संघ को देखकर ये शूद्र हैं, मलिन हैं, नग्न हैं इत्यादि कहना सो संघ का अवर्णवाद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का अवर्णवाद—जिनेन्द्र कथित धर्म व्यर्थ है, इसमें कोई गुण नहीं है, इसके सेवन करने वाले असुर होवेंगे इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।

देव का अवर्णवाद—देव मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवों को बलि से प्रसन्न होते हैं आदि कहना सो देव का अवर्णवाद है।

—(तत्त्वार्थसूत्र० ६।१३)

इनके साथ ही—"मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्" सत्य मोक्ष-मार्ग को दूषित ठहराना और असत्य मार्ग को सच्चा मोक्षमार्ग कहना ये भी दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण हैं। —तत्त्वार्थसार ४।२८

मिथ्याज्ञान का स्वरूप और तीन भेद

ज्ञानावृत्त्युदयादर्थेष्वन्यथाधिगमो भ्रमः।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिह त्रिधा ॥ १० ॥

अर्थ—ज्ञान को ढक देने वाले ऐसे ज्ञानावरणी कर्म के उदय से पदार्थों के अन्य रूप से अर्थात् जैसा उसका स्वरूप है वैसा नहीं किन्तु अन्य प्रकार से जो ज्ञान होना है सो मिथ्याज्ञान है। वह भ्रम (अनध्यवसाय) अज्ञान (विपरीत) व संशय के भेद से तीन तरह का है अर्थात् उसके तीन भेद हैं ॥ १० ॥

विशेष—(१) भ्रम मिथ्याज्ञान को अनध्यवसाय, अज्ञान मिथ्याज्ञान को विपरीत एवं संशय मिथ्याज्ञान को सन्देह नाम से भी उल्लिखित किया गया है।

'किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः' अर्थात् 'कुछ है' ऐसा निश्चय रहित ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है। हल्के प्रकाश में 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' (ठूंठ वृक्ष है अथवा आदमी है) ऐसा विरुद्ध अनेक कोटि का स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है—'विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः।' शरीर को आत्मा मानना आदि एकमात्र विपरीत का निश्चय करने वाला ज्ञान विपरीत कहलाता है—'विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः।' ये तीनों प्रकार के ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं, क्योंकि इनसे वस्तुतत्त्व का ज्ञान सही नहीं होता है।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप

वृत्तिमोहोदयाज्जन्तोः कषायवशवर्तिनः।
योगप्रवृत्तिरशुभा मिथ्याचारित्रमूचिरे ॥ ११ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कषाय के वश में रहने वाले प्राणी के मन, वचन, काय रूप योगों की जो अशुभ प्रवृत्ति होती है उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं ॥ ११ ॥

विशेष—चारित्र मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय। प्रथम तो क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायों का अनुभव कराता है तथा द्वितीय जीव को हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद का अनुभव कराता है 'कषायोदयात् तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य' तीव्र कषाय के वशवर्ती होकर क्रोध-मान-माया-लोभ स्वयं करना व दूसरों में कषाय उत्पन्न करना और चारित्रधारी तपस्वियों में दोष लगाना आदि कषायवेदनीय कर्म के बंध के कारण हैं। स्वयं क्रोधादि कषायें करना, दूसरों में उत्पन्न करना एवं उनके वशवर्ती होकर तपस्वियों के चारित्र में दोष लगाने आदि से कषायवेदनीय का बंध होता है तथा १–धर्म का दीन-हीन प्राणी की हँसी उड़ाना, बकवास एवं मजाकिया स्वभाव आदि होना, २–नाना प्रकार की क्रीडाओं में रत रहना, शील में अरुचि होना आदि, ३–दूसरों में बेचैनी उत्पन्न करना आदि, ४–दूसरों में शोक पैदा करना एव उनके शोक में आनन्द मानना आदि, ५–डरना, डराना आदि, ६–आचार के प्रति ग्लानि होना आदि, ७–असत्य संभाषण, परदोषदर्शन, मायाचार, तीव्रराग आदि का होना, ८–ईषत् क्रोध, अभीष्ट पदार्थों में कम आसक्ति, स्वदारसन्तोष आदि परिणाम रहना तथा ९–प्रबल कषाय, गुप्तेन्द्रिय छेदन, परस्त्रीगमन आदि उक्त नौ नोकषायो के बंध के कारण हैं। कषाय और नोकषाय (अल्प कषाय) दोनों का ही यहाँ कषाय शब्द से उल्लेख समझना चाहिये। कषायों के आधीन हो जाने से जीव की मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति होती है। यह अशुभ प्रवृत्ति ही मिथ्याचारित्र है। चारित्र मोहनीय का स्वभाव ही संयम को रोकना है।

बंध का प्रमुख कारण मिथ्यादर्शन

मिथ्याज्ञान मंत्रीं एवं ममकार अहंकार सेनापति

बंधहेतुषु सर्वेषु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत् ॥ १२ ॥
ममाहंकारनामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदायत्तः सुदुर्भेदो मोहव्यूहः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—बन्ध के सम्पूर्ण कारणों में सबसे प्रथम मोह (मिथ्यादर्शन) कहा गया है। मिथ्याज्ञान तो उसका सहायक मात्र है। मिथ्याज्ञान तो इसका सहायक मात्र ही है। ममत्व और अहंकार हैं नाम जिनके ऐसे दो सेनापति हैं, वे दोनों, जिनके कि आधिपत्य में यह मोहरूपी व्यूह अत्यंत दुर्भेद्य हो रहा है उसके लड़के भी हैं। यहाँ पर मोह (मिथ्यादर्शन) को युद्ध में तत्पर राजा बतला, मिथ्याज्ञान को उसका मंत्री और ममकार एवं अहंकार को उसका पुत्र तथा सेनापति कहा गया है ॥ १२-१३ ॥

विशेष—(१) तत्त्वार्थसूत्र में भी बन्ध के जो पाँच कारण परिगणित किये गये हैं, उनमें मिथ्यात्व को ही प्रथम कारण परिगणित किया गया है—

'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।' ८ १

मिथ्यात्व गृहीत एवं अगृहीत के भेद से दो प्रकार का होता है। मिथ्यात्व कर्म के उदय से अनादिकाल से लगा हुआ भ्रम अगृहीत मिथ्यात्व है तथा परोपदेश से होने वाला एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान रूप मिथ्यात्व गृहीत कहलाता है। गृहीत मिथ्यात्व को तो जीव अनेक बार छोड़ चुका है परन्तु आत्मस्वरूपोपलब्धि का वास्तविक बाधक तो अगृहीत मिथ्यात्व है, जिसका त्याग अत्यन्त आवश्यक है तथा इसे ही जीव ने अब तक नहीं छोड़ा है।

(२) यहाँ कहा गया है कि मोह एक अत्यन्त दुर्भेद्य व्यूह है। इस व्यूह के दो सेनापति हैं—ममकार और अहंकार। मिथ्याज्ञान दुर्मन्त्रणा करने वाला मन्त्री है। यदि कोई मोह व्यूह को तोड़ना चाहता है तो उसे ममकार एवं अहंकार नामक सेनापतियों को पहले नष्ट करना आवश्यक है। उनके नाश हो जाने पर व्यूह को तोड़कर विजय प्राप्त करना अत्यन्त सुकर है।

ममकार का लक्षण

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो आत्मा से सदा भिन्न हैं, ऐसे कर्मोदय से उत्पन्न अपने शरीर आदि (स्त्री, पुत्र, मकान आदि) पदार्थों में आत्मीय (स्वत्व) भावना हो जाना सो ममकार (ममत्वबुद्धि) है। जैसे अपने शरीर में, जो कि आत्मा से पृथक है, "यह मेरा है" ऐसी बुद्धि होना ॥ १४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—मोह व्यूह का सेनापति ममकार है। बाह्य पदार्थ को अपना मानना ममकार कहलाता है। यह मेरा शरीर है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भवन है, यह मेरा धन है आदि ममकार के रूप हैं। ममकार के वशीभूत होकर प्राणी यह भूल जाता है कि मेरा तो केवल ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मा है। बाह्य में जो मेरा प्रतीत होने वाला है, वह तो मेरा साथ छोड़ देता है। अतः वास्तव में मेरा आत्मा ही मेरा है। किन्तु ममकार के कारण जीव परपदार्थों में अपना मानने की भूल करता है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह के संस्कृत वृत्तिकार श्रीब्रह्मदेव ने ममकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—"कर्मजनित देहपुत्रकलत्रादौ ममेदमिति ममकारः।" अर्थात् कर्मजनित देह, पुत्र, स्त्री आदि में 'यह मेरा शरीर है' आदि बुद्धि ममकार है। (द्रष्टव्य ३/४१ की वृत्ति)

अहंकार का लक्षण

ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥ १५ ॥

अर्थ—उन विभाव परिणामों में जो कर्मों के द्वारा किये गये हैं तथा निश्चय नय से जो आत्मा से भिन्न हैं, उनमें अपनेपन की भावना करना सो अहंकार बुद्धि है। जैसे "मैं राजा हूँ" ॥ १५ ॥

विशेष—मिथ्यात्व के कारण जीव आत्मस्वरूप को भूल गया है और शरीर को 'मैं' मान रहा है। शरीर की प्राप्ति में अपना जन्म और उसके छूट जाने को अपना मरण मानता है। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं राजा हूँ, मैं रंक इत्यादि विविध विकल्पों को 'मैं' मानकर अपनी श्रद्धा में रखता है। यह अहङ्कार मोहव्यूह की रक्षा करता है तथा 'मैं केवल आत्मा मात्र हूँ' भाव को भुला देता है। ममकार की तरह अहङ्कार भी मोहव्यूह में एक सेनापति कहा गया है।

पंडितप्रवर दौलतराम जी ने अहङ्कार एवं ममकार का बड़ा ही रमणीय वर्णन किया है—

"मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन॥"

—छहढाला २/२०-२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहद्द्रव्यसंग्रह के संस्कृतवृत्तिकार श्रीब्रह्मदेव ने तृतीय अधिकार को ४१ वीं गाथा की वृत्ति में अहङ्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है—"तत्रैव (कर्मजनितदेहपुत्रकलत्रादौ) अभेदेन गौरस्थूलादिदेहोऽहं राजाहमित्यहङ्कारलक्षणमिति ।" अर्थात् उन शरीर, पुत्र, स्त्री आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर 'मैं गोरा हूँ', 'मैं मोटा हूँ', 'मैं राजा हूँ' इस प्रकार मानना अहङ्कार का लक्षण है ।

मोह का घेरा

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः ।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते ।। १६ ।।

अर्थ—मिथ्याज्ञान से युक्त रहने वाले मिथ्यादर्शन (मोह) से ममकार और अहङ्कार उत्पन्न होते हैं और इन दोनों से जीव को राग एवं द्वेष उत्पन्न होते हैं ।। १६ ।।

विशेष—यह सब मिथ्याज्ञान एवं मिथ्यादर्शन का फल है कि व्यक्ति ममकार एवं अहङ्कार के कारण रागी द्वेषी बना रहता है । पं० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखा है—

'मिथ्यादर्शनादिककरि जीव के स्वपरविवेक नाहीं होई सकै है । एक आप आत्मा अर अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीर इनका संयोगरूप मनुष्यादि पर्याय निपजै है, तिस पर्याय ही को आपो माने है । बहुरि आत्मा का ज्ञानदर्शनादि स्वभाव है ताकरि किंचित् जानना देखना होय है । अर कर्म उपाधितैं भये क्रोधादिक भाव तिन रूप परिणाम पाईये हैं । बहुरि शरीर का स्पर्श रस गन्ध वर्ण स्वभाव है, सो प्रकटै है अर स्थूल कृषादिक होना व स्पर्शादिक का पलटना इत्यादि अनेक अवस्था होय है । इन सबनि को अपना स्वरूप जाने है । तहाँ ज्ञान दर्शन की प्रवृत्ति इन्द्रिय मन के द्वारे होय है तातैं यहु माने है कि ए त्वचा जीभ नासिका नेत्र कान मन ये मेरे अंग हैं, इनकरि मैं देखूँ जानूँ हूँ ऐसा मानि तातैं इन्द्रियनिविषैं प्रीति पाईये है ।"

आचार्य श्री योगीन्द्रदेव अमृताशीति ग्रन्थ में लिखते हैं—

अज्ञानतिमिर प्रसरोयमन्तः
सन्दर्शिताखिलपदार्थ विपर्ययात्मा ।
मन्त्री स मोहनृपतेः स्फुरतीह याव-
त्तावत्कुतस्तव शिवं तदुपायता वा ।। १४ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार का सम्यक् परिपालक राजा मोहमल्ल है। इस राजा का प्रधानमन्त्री अज्ञान है। राजा को आज्ञा और आदेश का प्रचार प्रसार व प्रतिपालन कराना मन्त्री के हाथ में होता है। मन्त्री के परामर्शानुसार राजा काम करता है। अतः अज्ञान नामक मन्त्री ने अपनी मिथ्यात्वरूपी काली चादर संसारी प्राणियों पर भली प्रकार से ओढ़ रखी है। जिस प्रकार रंगीन कांच का चश्मा लगाने से सफेद वस्तुएं भी रंगीन दिखलाई पड़ती हैं उसी प्रकार अज्ञानरूपीतिमिर से आच्छादित हृदययुत मानव को यथार्थ तत्त्व विपरीत प्रतिभासित होते हैं यह विपर्यास जब तक रहेगा तब तक याथातथ्य आत्मतत्त्वका भान नहीं हो सकता।

(अनुवादिका आ० विजयामती)

ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः॥ १७॥
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगतिदुर्गती।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च॥ १८॥

अर्थ—उन दोनों (राग-द्वेष) से कषायें होती हैं और नोकषायें कषाय-रूप ही हैं। उन (कषाय-नोकषायों) से योगों की प्रवृत्ति होती है और उससे प्राणिवध आदि (पाप) होते हैं। उन (प्राणिवधादि पापों) से कर्म बँधते है और उस (कर्मबन्ध) से सद्गति एवं दुर्गति प्राप्त होती है। वहाँ (गतियोंमें) शरीर एवं स्वाभाविक रूप से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं ॥१७–१८॥

विशेष—(१) १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग ये ५७ आगम में आस्रव भाव कहे गये हैं। ६ इन्द्रिय असंयम और ६ प्राण-असंयम ये १२ अविरत्ति हैं। २५ कषायों में १६ कषाय और ९ नोकषायों का समावेश है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ ये चार कषायें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन के भेद से ४×४=१६ हो जाती हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय तत्त्वों का सत्य श्रद्धान नही होने देती है। यह सम्यग्दर्शन को रोकने वाली है। अप्रत्याख्यानवरण के प्रभाव से श्रावक व्रतों को पालन नहीं कर पाता है। प्रत्याख्यानावरण के प्रभाव से श्रावक को महाव्रतादि पालन करने के भाव नहीं होते हैं तथा संज्वलन के प्रभाव से पूर्ण वीतराग भाव यथाख्यातचारित्र नहीं होता है। नोकषाय का अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—ईषत् या हल्की कषाय। ये ९ हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद। इन पच्चीस कषायों के प्रभाव से सत्य, असत्य, उभय, अनुभय ४ मनोयोग, ४ वचनयोग तथा औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र एवं कार्मण से ७ काययोग = १५ योगों की प्रवृत्ति होती है। इनकी प्रवृत्ति से १२ प्रकार की अविरति उत्पन्न होती है और इस कारण कर्मों का बन्ध होता है। मोहाभिभूत जीव नाना प्रकार की कुचेष्टाओं को कर कषायों-नोकषायों से अपने को परिपुष्ट करता है—

अज्ञानमोहमदिरां परिपीय मुग्ध,
हे हन्त हन्ति परिवल्गति जल्पतीष्टम्।
पश्येदृशं जगदिदं पतितं पुरस्ते,
किन्तूर्ध्वसे त्वमपि वालिश! तादृशोऽपि ॥ १७ ॥

—अमृताशीति

हे मूढ़े! अज्ञानरूप मोहमदिरा के पान का प्रत्यक्ष कुफल देखकर भी तुम उसका त्याग करना नहीं चाहते यह अत्यन्त खेद की बात है। अहो खेद है लोग मदिरा पीकर नशा में चूर हो जाता है। जो मन में आता है वही बकता है, बोलता है, इच्छानुसार हँसता, गाता, बजाता रोता है—हिताहित विवेक से शून्य होकर जहाँ-तहाँ नालियों में गिरता पड़ता है। देखो! यह संसार भी उसी प्रकार मोहमदिरा का पान कर स्व-पर के भेद को भूलकर विपरीत आचरण करता है और दुर्गति का पात्र बनता है। हे मूर्ख! उस प्रकार प्रत्यक्ष होने पर भी, फिर तुम क्यों ऊपर दृष्टि किये हो? अर्थात् तुम्हें सावधान होना चाहिये किन्तु उल्टे तुम उसकी ओर देखना भी नहीं चाहते। यह विपरीत दशा क्यों? विचार करो।

तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥ १९ ॥

अर्थ—फिर स्पर्शादि इन्द्रियों के द्वारा उनके विषयों को ग्रहण करता हुआ जीव मोहित होता है, द्वेष करता है। एवं अनुराग करता है। उससे बन्ध होता है और इस प्रकार मोह के व्यूह मे फँसा हुआ जीव भ्रमण करता रहता है ॥ १९ ॥

विशेष—(१) जब जीव इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण करता है, तब एक समय में जैसे शुभ या अशुभ भाव होते हैं वैसे ही कर्मों का आस्रव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर बन्ध हो जाता है। बन्धन में पड़ा हुआ जीव मोहवश ८४ लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है। रागद्वेष सहित कर्मों का भोग करने से नवीन कर्मों का बन्ध होता है। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

'रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ १५०॥

(२) वास्तव में मोह ही बन्ध का कारण है। देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में कहा है—

'भुंजन्तो कम्मफलं भावं मोहेण कुणइ सुहअसुहं।
जइ तं पुणो वि बंधइ णाणावरणादि अट्ठविहं॥

अर्थात् यदि कर्मों के फल को भोगते हुए शुभ-अशुभ रूप भाव मोह के वशीभूत हो करने लगे तो वह जीव पुनः ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है। यही बात समयसारकलश में भी कही गई है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः॥

अज्ञानी जीव अपने आत्मा के स्वभाव को एवं पुद्गल के स्वभाव को ठीक-ठीक नहीं जानता है। इसलिए अपने आपको राग-द्वेष आदि रूप कर लेता है। अतएव कर्मों का बन्ध करता है।

तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः।
ममाहंकारयोश्चात्मन्विनाशाय कुरुद्यमम्॥ २०॥

अर्थ—इसलिये हे आत्मन्! इस मिथ्यादर्शन (मोह) एवं मिथ्याज्ञान के शत्रु होने के कारण ममकार एवं अहङ्कार के विनाश करने के लिए उद्यम कर॥ २०॥

विशेष—(१) परद्रव्यों को अपने रूप, अपने को पररूप और परद्रव्यों का स्वामी समझना अज्ञान है। भूतकाल अथवा भविष्य में भी इस तरह के होने की कल्पना करना अज्ञान है। जिस प्रकार अग्नि और ईंधन न कभी एक थे, न हैं और न होंगे। उसी प्रकार आत्मा और शरीरादि पर द्रव्य न कभी एक थे, न हैं और न होंगे। किन्तु मिथ्याज्ञान के कारण अग्नि और ईंधन को जैसे एक समझता है, उसी प्रकार आत्मा और परद्रव्यों को भी एक समझता है। इसके कारण आत्मा में अहङ्कार, ममकार और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परकार विकारी भाव उत्पन्न हो जाते हैं। ज्ञानी आत्मा को इन विकारी भावों का त्याग करके आत्मा को परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न समझना चाहिये। समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने अज्ञानी आत्मा के अहङ्कार, ममकार आदि का सुन्दर विवेचन किया है—

"अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तमिस्सं वा॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि॥
एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो॥"

अर्थात् अपने से भिन्न जो सचित्त, अचित्त अथवा मिश्रित पर द्रव्य है उनमें 'मैं यह हूँ' 'यह मैं हूँ' 'मैं इसका हूँ' 'यह मेरा है' 'यह पहले मेरा था' 'मैं भी पहले इसका था' 'यह मेरा फिर होगा' 'मैं भी इसका होउँगा'। इस प्रकार से मिथ्या आत्मविकल्पों को मूर्ख व्यक्ति करता है किन्तु ज्ञानी व्यक्ति वास्तविकता को जानता हुआ उन विकल्पों को नहीं करता है।

बंध के कारणों का विनाश

बंधहेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव।
शेषोऽपि रागद्वेषादिबंधहेतुर्विनश्यति॥ २१॥

अर्थ—बन्ध के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानादि प्रमुख कारणों के नष्ट हो जाने पर क्रमशः तुम्हारे बचे हुए राग, द्वेष आदि बन्ध के कारण भी धीरे-धीरे नष्ट हो जायँगे॥ २१॥

विशेष— १) अहंकार, ममकार आदि बन्ध के मूल कारण हैं। इनके कारण ही राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है। अर्थात् राग-द्वेष आदि का कारण अहंकार, ममकार, परकार है। जब अहंकार आदि नाश को प्राप्त हो जाते हैं, तो राग-द्वेष आदि का उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार तन्तुओं के दग्ध हो जाने पर वस्त्र का दाह हो जाता है। 'उपादानकारणाभावे कार्याभावः' यह सामान्य नियम है।

यथा कोई भी पुरुष अपने शरीर पर तेलादि चिक्कण पदार्थ लगाकर धूल से धूसरित स्थान पर जाकर व्यायाम आदि करे तो वह धूल से लिप्त हो जाता है तथैव मिथ्यादृष्टि असंयमी जीव रागादि विभावपरिणामों को करता हुआ कर्मरज से लिप्त होता है। तथा यदि वही पुरुष यदि अपने

२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर पर चिक्कण पदार्थ नहीं लगाते हुए व्यायाम आदि करता है तो वह धूल से लिप्त नहीं होता वैसे ही वही जीव सम्यग्दर्शन, संयम सहित नाना चेष्टाओं को करता हुआ भी विभावपरिणामों का त्याग व शुद्धात्मतत्त्व का श्रद्धान करता हुआ बंध के कारणों का विनाश करता हुआ मुक्तावस्था को प्राप्त होता है।

बन्ध कारणों के अभाव में मोक्ष

ततस्त्वं बंधहेतूनां समस्तानां विनाशतः ।
बन्धप्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यसि संसृतौ ।। २२ ।।

अर्थ—तदनन्तर समस्त बन्धहेतुओं के नष्ट हो जाने से बन्ध के भी नष्ट हो जाने के कारण तुम मुक्त होकर संसार में परिभ्रमण नहीं करोगे ।। २२ ।।

विशेष—(१) संसार परिभ्रमण का कारण बन्ध है। बन्ध राग-द्वेष आदि के कारण होने वाली वैभाविक परिणति से होता है। ये ही ही बन्ध के कारण हैं। क्योंकि सकषाय होने के कारण ही जीव कर्मयोग्य पुद्गलों का आदान करता है और वही बन्ध कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा गया है।

'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यान्पुद्गलानादत्ते सः बन्धः।'
—तत्त्वार्थसूत्र ८/३

बन्ध के हेतुओं के नष्ट हो जाने पर बन्ध का स्वतः ही नाश समझना चाहिये। बन्ध के अभाव में जीव सर्व कर्मों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है और उसे संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता है।

"बंधहेत्वाभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः"।
—तत्त्वार्थसूत्र १०/२

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के कारण हैं। बंध के कारणों में चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व, षष्ठम में अविरति, सप्तम में प्रमाद, ग्यारहवें बारहवें में कषाय और चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाता है। बंध के सम्पूर्ण कारणों का अभाव होने पर यह जीव सर्वकर्मों की निर्जरा कर सम्पूर्ण कर्मों से अत्यन्त रहित हो जिस अवस्था को प्राप्त होता है वह अवस्था मोक्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धहेतुविनाशस्तु मोक्षहेतुपरिग्रहात् ।
परस्परविरुद्धत्वाच्छीतोष्णस्पर्शवत्तयोः ।। २३ ।।

अर्थ—मोक्ष के कारणों को धारण कर लेने से बन्ध के कारणों का नाश तो हो ही जाता है। क्योंकि उन दोनों में शीतस्पर्श एवं उष्णस्पर्श की तरह परस्पर विरोधीपना है ।। २३ ।।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में मोक्ष कारण सम्यक्त्व एवं बन्धकारण मिथ्यात्वादि में शीतस्पर्श एवं उष्णस्पर्श की तरह विरोध बताया गया है। जब जीव मोक्ष के कारणों का आश्रय ले लेता है तो बन्ध के कारणों का नाश हो जाता है। क्योंकि शीतस्पर्श एवं उष्णस्पर्श का एक समय में एकत्र अवस्थान संभव नहीं है।

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।। २६ ।।

—इष्टोपदेश

परद्रव्य, स्त्री पुत्र कुटुम्ब, मकान आदि मेरे हैं इस प्रकार ममता बुद्धि जीव के बन्ध का हेतु है और परद्रव्य-परदार्थ इष्ट पत्नी-पुत्र-परिवार आदि मेरे नहीं हैं "निर्ममत्व" बुद्धि मुक्ति का हेतु है। बन्ध और मुक्त अवस्था में "३६" आँकड़े की तरह परस्पर विरोध है।

मुक्ति के कारण

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ।। २४ ।।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष का कारण है। निर्जरा एवं संवर की क्रियायें भी जिनेन्द्र भगवान् द्वारा मोक्ष हेतु कही गई हैं ।। २४ ।।

विशेष—(१) तत्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चरित्र इन तीनों की एकता को मोक्षमार्ग कहा गया है 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः त० १/१ ।' इन तीनों में साहचर्य सम्बन्ध है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो एक साथ होते हैं। क्योंकि ज्ञान में सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन के निमित्त से आता है। जैसे मेघपटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होता है। किन्तु सम्यक्-चारित्र कभी तो सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के साथ ही प्रकट होता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी कुछ अन्तराल के बाद। किन्तु यह निश्चित है कि सम्यक्चारित्र अकेला नहीं रहता है। अतः तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।

(२) आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता है, उन कारणों का निरोध करने से कर्मों का आस्रव रुक जाता है। आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—'आस्रवनिरोधः संवरः' ९/१

(३) तप विशेष से संचित कर्मों का क्रमशः अंश रूप से झड़ जाना निर्जरा है। तप से संवर एवं निर्जरा दोनों होते हैं—'तपसा निर्जरा च।' तत्त्वार्थसूत्र ९/३.

संवर और निर्जरा मोक्ष का कारण है। इसीलिये यहाँ पर मोक्ष के कारण के कारण को मोक्ष के कारणत्व का कथन किया गया है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव आदि जो नौ पदार्थ जिनेन्द्र भगवान् ने जैसे कहे हैं, वे वैसे ही हैं—इस प्रकार का जो श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन कहा जाता है ॥ २५ ॥

विशेष—(१) आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में निश्चयनय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है—

'भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो च सम्मत्तं ॥ १३ ॥

अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव पदार्थों की यथार्थ प्रतीति का नाम सम्यक्त्व है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य-पाप को छोड़कर शेष सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।' यह सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र का मूल है। इसके बिना ज्ञान तथा चारित्र मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित रहते हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार सम्यग्दर्शन के चिह्न हैं। अनेक स्थलों पर सम्यक्त्व के संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण भी कहे गये हैं। ये आठों उपर्युक्त चार चिह्नों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। प्रशम में निन्दा, गर्हा और संवेग में निर्वेद वात्सल्य और भक्ति गर्भित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

प्रमाणनयनिक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जो प्रमाण, नय और निक्षेपों के द्वारा जीव आदि पदार्थों के विषय में ठीक-ठीक निश्चय करना है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥२६॥

विशेष—(१) आत्मा में अनन्त स्वभाव एवं शक्तियाँ हैं। इन सब में ज्ञान मुख्य है। क्योंकि इसी के द्वारा आत्मा का बोध होता है और आत्मा इसी के द्वारा प्रवृत्ति करता है। प्रकृत श्लोक में प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा जीवादि के यथार्थ निश्चय को सम्यग्ज्ञान कहा गया है। तत्त्वार्थ-सूत्र में भी तत्त्वों के ज्ञान के साधन के रूप में निक्षेप, प्रमाण एवं नय का ही कथन किया गया है—

'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। प्रमाणनयैरधिगमः।' (तत्त्वार्थ-सूत्र १/५-६)

जैसा पदार्थ है उसको वैसा ही जानना सो प्रमाण कहलाता है। पदार्थ अनेकान्त है। अनेकान्त रूप स्वपर का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण द्वारा निश्चित हुई वस्तु के एकदेश ज्ञान को जो ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं। कहा भी है—'सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशः नयाधीनः।' प्रमाण सम्यक् ही होता है किन्तु नय यदि प्रमाण का आश्रय छोड़ दे तो मिथ्या भी हो सकता है। प्रमाणबुद्धि सहित नय सम्यक् होता है। प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं। निक्षेप के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव। नय विषयी, ज्ञायक एवं वाचक है जबकि निक्षेप विषय, ज्ञेय एवं वाच्य है। यही नय एवं निक्षेप में अन्तर है।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप

चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः।
पाप-क्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषंति तत् ॥ २७ ॥

अर्थ—हृदय से, वचन से एवं शरीर से कृत (स्वयं करना), कारित (दूसरों से कराना) एवं अनुमोदना (करने वाले की प्रशंसा करना) से जो पाप क्रियाओं का त्याग है, उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥ २७ ॥

विशेष—(१) जब मिथ्यात्व का अभाव हो जाने से भव्य जीवों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब साथ-साथ उसे अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से संयम धारण करने की उत्कट अभिलाषा होने लगती है। संयमाभिलाषी जीव पाप क्रियाओं के त्याग में प्रवृत्त होता है, उसकी इस प्रवृत्ति को ही सम्यक्चारित्र कहते हैं। वह स्वयं तो पाप क्रियाओं का त्याग करता ही है, दूसरों से भी पाप क्रियायें नहीं कराता है और न ही करने वालों की अनुमोदना करता है।

(२) सम्यक्चारित्र सकल अर्थात् महाव्रतरूप साधुधर्म और विकल अर्थात् अणुव्रत रूप गृहस्थ धर्म के भेद से दो प्रकार का होता है। प्रत्येक जिज्ञासु को मोक्ष की इच्छा से चारित्र को धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। अणुव्रती की ५३ क्रियायें हैं—८ मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, समता, ११ प्रतिमा, ४ दान, जलछानन, रात्रिभोजनत्याग, दर्शन, ज्ञान और चारित्र। कहा भी है—

'गुणवयतवसमपडिमा दाणं जलगाल्णं च अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्णसावया भणिया॥'

महाव्रती पञ्चपापों के सर्वथा त्यागी होते हैं तथा इसके निर्वाहार्थ वे अष्ट प्रवचनमातृका (५ समिति, ३ गुप्ति) का पालन करते हैं। उनका २२ प्रकार का परीषह जय होता है। २८ मूलगुणों का पालन करते हैं तथा यथाशक्ति उत्तरगुणों का भी परिपालन करते हैं।

मोक्ष हेतु में साध्यसाधनता

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयव्यवहारतः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ २८॥

अर्थ—पुनः निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्ष के कारण दो प्रकार के हैं। उनमें प्रथम (निश्चय) साध्यरूप है और दूसरा (व्यवहार) उसका साधन है॥ २८॥

विशेष—"जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो"।
—छहढाला ३/१

"निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः"।—त० सा०

धर्मास्तिकाय आदि का अर्थात् षट्द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सप्ततत्त्व व नव पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तथा अंग पूर्व सम्बन्धी आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप में चेष्टा करना सम्यक्चारित्र है इस प्रकार यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो आत्मा रत्नत्रय द्वारा समाहित होता हुआ, निजात्मा में एकाग्र हुआ अन्य कुछ भी न करता है, न छोड़ता है, अर्थात् करने और छोड़ने के विकल्प से दूर हो गया है वही आत्मा निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

"निश्चय साध्य है और व्यवहार साधन है।" जैसे कोई धनार्थी पुरुष राजा को जानकर श्रद्धा करता है, और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है वैसे ही मोक्ष के इच्छुक पुरुष को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिये, और पश्चात् उसी का अनुचरण करना चाहिये और अनुभव द्वारा उसमें लय हो जाना चाहिये।

आचार्यों ने निश्चय मोक्षमार्ग के साधन रूप से व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन पुनः-पुनः किया है। स्व और पर कारण रूप पर्यायाश्रित तथा साध्यसाधन भेदभाव को लिये हुए व्यवहारनय है। जैसे स्वर्णपाषाण प्रदीप्त अग्नि के संयोग से शुद्ध स्वर्ण हो जाता है वैसे ही यह व्यवहार मोक्षमार्ग अन्तर्दृष्टि वाले जीव को ऊपर-ऊपर की परम रमणीक शुद्ध भूमिकाओं में विश्रान्ति की निष्पत्ति करता हुआ स्वयं सिद्ध स्वभावरूप से परिणमन करते हुए निश्चय मोक्षमार्ग का साधन होता है।

निश्चयनय व व्यवहारनय

अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥ २९ ॥

अर्थ—कर्ता, कर्म आदि विषय जिसमें अभिन्न वर्णित हों वह निश्चय-नय है और जिसमें कर्ता, कर्म आदि भिन्न कथित हों वह व्यवहार-नय है॥ २९ ॥

विशेष—(१) निश्चय कर्ता, कर्म आदि की अभिन्नता का कथन करता है जबकि व्यवहार भिन्नता का। यहाँ पर निश्चयनय एवं व्यवहारनय का प्रयोग निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग के लिए किया गया है।

(२) तत्त्वानुशासन के इस श्लोक का ध्यानस्तव के निम्नांकित ७१वें श्लोक पर अत्यन्त प्रभाव है। दोनों में ही निश्चय और व्यवहारनयों का स्वरूप समान रूप से कहा गया है। ध्यानस्तव में कहा गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अभिन्नकर्तृकर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा ।
व्यवहारः पुनर्देव ! निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः ॥'

अर्थात् अथवा हे देव ! जो कर्ता एवं कर्म आदि कारकों में भेद न करके वस्तु को विषय करता है, उसे निश्चयनय कहा गया है। व्यवहार-नय उससे भिन्न है।

व्यवहार मोक्षमार्ग

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम् ।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरयम् ॥ ३० ॥

अर्थ—धर्म आदि का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन एवं उनको जानना सम्यग्ज्ञान है। तपस्या में चेष्टा करना सम्यक्चारित्र है। यह (तीनों की एकता) व्यवहार से मोक्ष का कारण है ॥ ३० ॥

विशेष—प्रस्तुत श्लोक मे प्रकारान्तर से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के स्वरूप का विवेचन किया गया है। व्यवहारनय की अपेक्षा ये सम्यग्दर्शनादित्रय मोक्ष के कारण हैं। यहाँ धर्म आदि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। धर्मादि से किसका ग्रहण किया जाये—यह यहाँ विचारणीय है। योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है—

'या देवे देवताबुद्धिः गुरौ च गुरुतामतिः ।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥'

—योगशास्त्र २/२

किन्तु धर्मादि से यहाँ धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल तथा जीव इन षड्द्रव्यों का श्रद्धान ग्रहण करना अधिक समीचीन है। इन सबका पयःपानीवत् मिश्रण है। इससे जीव इन्हें अभिन्न समझता रहता है, जो मिथ्या है। इसका अलगाव जानना सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान नियम से सम्यग्दर्शन सहचरित होता है। ऐसा न होने पर ज्ञान में सम्यक्त्वता नहीं रहती है। तप आत्माभ्युदय का साधन है। यह अष्ट प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को भस्म कर देता है। अतः सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के सहचरित तपस्या में चेष्टा को यहाँ सम्यक्चारित्र कहा गया है। जब ये तीनों पूर्ण होते हैं तभी साध्य की सिद्धि होती है एवं अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। महापुराण में कहा गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रत्रयं यः सेवते कृती।
रसायनमिवातर्क्यं सोऽमृतं पदमश्नुते ॥'

—महापुराण ११/५९

निश्चय मोक्षमार्ग

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥ ३१ ॥

अर्थ—सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों समाहित जो साधु न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता है, निश्चयनय के अनुसार यह मोक्ष का कारण है ॥ ३१ ॥

विशेष—(१) तात्पर्य यह है कि आत्मा में लीनता ही निश्चयनय के अनुसार मुक्ति का कारण है। परमाणु मात्र भी परद्रव्य जीव का नहीं है। इसलिये यथार्थ दृष्टि में जीव न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता है। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥ ३८ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्‌चारित्र को धारण करने वाले साधुओं के लिए शुद्धनय की दृष्टि से ग्रहण या त्याग घटित ही नहीं होता है। अतः उनकी दृष्टि से तो आत्मलीनता ही मोक्ष का कारण है—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं त्यागो निष्ठितात्मनः ॥

मूढ़ बहिरात्मा द्वेष के उदय से बाह्य अनिष्ट पदार्थों का त्याग करता है और राग के उदय से बाह्य इष्ट पदार्थों का ग्रहण करता है तथा आत्म-स्वरूप को जानने वाला अन्तरात्मा अन्तरंग राग-द्वेष आदिक का त्याग करता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र आदि निज भावों का ग्रहण करता है और अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित जो कृतकृत्य सर्वज्ञ परमात्मा है वह न बाह्य आभ्यंतर का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण करता है यही निश्चय मोक्षमार्ग है। यही साध्य है।

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥

अर्थ—'जो आत्मा, स्वयं में स्वयं का स्वयं अवलोकन करती है स्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा, स्वयं का, स्वयं में परिज्ञान करती है और मध्यस्थ हो जाती है वही निश्चयनय से मोक्ष का मार्ग है' ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का कथन है ॥ ३२ ॥

विशेष—निश्चयनय के अनुसार परपदार्थों से आत्मा को भिन्न मानकर अपने आप अपनी आत्मा में रुचि करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपने आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है और अपने आत्मा में स्थिरता से लीन रहना सो सम्यक्चारित्र है। छहढाला की तीसरी ढाल के दूसरे पद्य में पण्डितप्रवर दौलतराम जी ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र का निश्चय से ऐसा ही स्वरूप कहा है। यही निश्चय मोक्ष मार्ग है।

"परद्रव्यनतैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है,
आप रूप को जानपनों सो सम्यक् ज्ञान कला है।
आप रूप में लीन रहे थिर सम्यक्चारित सोई ॥"

—छहढाला ३/२

अर्थात् परम निरपेक्ष रूप से निज परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान उसी परमात्मतत्त्व का सम्यक् परिज्ञान और उसी परमात्मतत्त्व में सम्यक् अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग निश्चय मोक्षमार्ग है यही मोक्ष का उपाय है और निश्चय मोक्षमार्ग ही शुद्ध रत्नत्रय है इसका फल अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि है।

सर्वज्ञदेव ने योगी पुरुषों का आत्मदर्शन (श्रद्धान) सम्यग्दर्शन, आत्म-ज्ञान-सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र में रमण को सम्यक्चारित्र कहा है, यह निश्चय मोक्षमार्ग है, यही स्व-स्वरूपोपलब्धि में साधकतम करण है।

ध्यान के अभ्यास का उपदेश

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यसन्तुध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—दोनों प्रकार का वह देदीप्यमान मोक्षमार्ग चूँकि ध्यान में ही प्राप्त होता है, इसलिए बुद्धिमान् लोग आलस्य को त्याग कर हमेशा ध्यान का अभ्यास करें, जिससे मुक्ति हेतुओं की प्राप्ति हो सके।

विशेष—(१) द्रव्यसंग्रह में भी यही अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा गया है कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

अर्थात् मुनि नियम से दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान के आश्रय से ही प्राप्त करते हैं, अतः प्रयत्नशील होकर तुम लोग ध्यान का अभ्यास करो। और भी कहते हैं—

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ॥ ५७ ॥
—द्रव्यसंग्रह

क्योंकि तप, व्रत और श्रुतज्ञान का धारक आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला होता है इस कारण हे भव्य पुरुषों ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिये सदैव तत्पर रहो।

धर्म्य व शुक्ल सद्ध्यान

आर्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा ।
धर्मं शुक्लं च सद्ध्यानमुपादेयं मुमुक्षुभिः ॥ ३४ ॥

अर्थ—ध्यान के चार भेद हैं (आर्त्त, रौद्र, धर्म्य व शुक्ल)। इनमें से, संसार से छुटकारा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के द्वारा आर्त्त परिणाम, एवं रौद्र परिणाम रूप जो खोटे ध्यान हैं वे सदा ही वर्जनीय (छोड़ने योग्य) हैं और धर्म्यध्यान एवं शुक्लध्यान ग्रहण करने योग्य हैं ॥ ३४ ॥

विशेष—ध्यान चार प्रकार का होता है—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। इनमें आदि के दो ध्यान संसार का कारण होने से त्याज्य तथा अन्त के दो ध्यान मोक्ष का कारण होने से ग्राह्य कहे गये हैं। प्रियवस्तु का वियोग एवं अप्रिय वस्तु के संयोग का निराकरण करने के लिए, लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए, पीड़ा दूर करने के लिए चिन्तन करना आर्त्तध्यान है और यह तिर्यञ्च गति का कारण है। हिंसा, झूठ, चोरी, भोगरक्षा का चिन्तन करना रौद्रध्यान है और यह नरक गति का कारण है। सर्वज्ञदेव की आज्ञा का चिन्तन, संसार के दुःखों के नाश का चिन्तन, कर्मफल का चिन्तन तथा लोकसंस्थान का विचार धर्म्यध्यान है और यह स्वर्ग-सुख का कारण है। पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति यह चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का शुक्लध्यान है और यह मुक्ति महल में प्रवेश कराने का कारण कहा गया है। अमितगतिश्रावकाचार के पन्द्रहवें परिच्छेद के ९वें से १५ वें श्लोक तक के आधार पर यह वर्णन किया गया है। निष्कषायभाव भाव से निर्मल परिणाम शुक्लध्यान में होते हैं।

शुक्लध्यान के स्वामी

वज्रसंहननोपेताः पूर्वश्रुतसमन्विताः ।
दध्युः शुक्लमिहातीताः श्रेण्योरारोहणक्षमाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस जगत् में वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले, चौदह पूर्व श्रुतज्ञान को धारण करने वाले तथा क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने में समर्थ प्राचीन लोगों ने शुक्लध्यान को धारण किया था ॥ ३५ ॥

विशेष—शुक्लध्यान के चार भेद हैं। वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय का परिवर्तन करते हुए चिन्तन करना पृथक्त्ववितर्कविचार शुक्लध्यान है। श्रुतज्ञान के अवलंबन द्वारा बिना परिवर्तन किये हुये द्रव्य, पर्याय या योग में चिन्तन का रुकना एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान है। ये दोनों शुक्लध्यान ११ अंग और १४ पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवलियों के होते हैं। बादरकाययोगी बन सूक्ष्म काययोग के निरोधक रूप न गिरते हुए आत्मा में आत्मा की एकाग्रता सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान है तथा योग की क्रिया से रहित आत्मा की आत्मा में एकाग्रता समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति अथवा व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान है। ये दोनों शुक्लध्यान केवलियों के होते हैं। कहा भी गया है—शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। परे केवलिनः।'

—तत्त्वार्थसूत्र, ९/३७-३८

गुणस्थानों की अपेक्षा प्रथम शुक्लध्यान आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक, द्वितीय बारहवें, तृतीय तेरहवें तथा चतुर्थ शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है।

अमितगतिश्रावकाचार में शुक्लध्यान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आत्मा को निर्मल करने में समर्थ और रत्न के प्रकाश के समान स्थिर शुक्लध्यान आठवें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्ती मुमुक्षु साधकों के होता है। चिरकाल से संचित सब कर्म ध्यान के द्वारा शीघ्र उड़ा दिये जाते हैं, जिस प्रकार बढ़े हुए बादलों का समूह पवन के द्वारा उड़ा दिया जाता है। (द्रष्टव्य १५/१८-१९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म्यध्यान के कथन की प्रतिज्ञा

तादृक्सामग्र्यभावे तु ध्यातुं शुक्लमिहाक्षमान् ।
ऐदंयुगीनानुद्दिश्य धर्मध्यानं प्रचक्ष्महे ।। ३६ ।।

अर्थ—परन्तु अब यहाँ वैसी सामग्री का अभाव होने पर शुक्लध्यान को धारण करने में असमर्थ वर्तमान-कालीन लोगों को लक्ष्य कर धर्मध्यान को कहता हूँ ।। ३६ ।।

विशेष—शुक्लध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननधारी, पूर्वों के ज्ञाता तथा क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने वाले को होता है—यह पूर्व श्लोक में कहा जा चुका है। चूँकि इस पञ्चम काल में वैसी योग्यता किसी में नहीं है, अतः शुक्लध्यान इस पञ्चम काल में किसी के भी नहीं हो सकता है। अतएव नागसेन मुनि ने धर्म्यध्यान का विस्तार से कथन करने की प्रतिज्ञा की है।

योगी को ध्यातव्य बातें

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा ।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना ।। ३७ ।।

अर्थ—जो व्यक्ति या योगि पुरुष ध्यान करने के लिये इच्छुक है उसे निम्नलिखित आठ (८) बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये :—

ध्याता—ध्यान करने वाला ।
ध्यान—चिंतन क्रिया ।
ध्यान का फल—प्रयोजन, निर्जरा संवर रूप ।
ध्येय—चिंतन योग्य पदार्थ ।
यस्य—जिस पदार्थ का ध्यान करता है। (द्रव्य)
यत्र—जहाँ ध्यान करता है। (क्षेत्र)
यदा—जिस समय ध्यान करता है। (काल)
यथा—जिस रीति से ध्यान करता है। (भाव) ।। ३७ ।।

विशेष—अमितगतिश्रावकाचार में योगी की ज्ञातव्य बातों का वर्णन करते हुए लिखा है—

'ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधिः फलम् ।
विधेयानि प्रसिद्ध्यन्ति सामग्रीतो विना न हि ।। १५/२३ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् ध्यान करने वाले योगी को ध्याता, ध्येय, ध्यान की विधि और ध्यान का फल ये चार बातें जान लेना चाहिये। क्योंकि योग्य सामग्री के बिना करणीय कार्य सिद्ध नहीं होते हैं।

ध्याता ध्येय ध्यान व ध्यान का फल

गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम् ।
एकाग्रचिंतनं ध्यानं निर्जरासंवरौ फलम् ।। ३८ ।।

अर्थ—जिसने इन्द्रियों एवं मन को वश में कर लिया उसे ध्याता (ध्यान लगाने वाला) कहते हैं, अपने स्वरूप से स्थित पदार्थ ध्येय (चिंतवन योग्य पदार्थ) कहे जाते हैं, एकाग्र चिंतन (अन्य पदार्थों या विचारों से मन को निवृत्त कर एक पदार्थ विचार में लगा देना) का नाम ध्यान है और कर्मों का अनागमन रूप संवर व कर्मों का झड़ जाना रूप निर्जरा उसके (ध्यान के) फल माने गये हैं ।। ३८ ।।

विशेष—यहाँ पर संक्षेप में ध्याता, ध्येय, ध्यान और उसके फल का कथन किया गया है। निरीहवृत्ति वाला वह धर्म्यध्यान का **ध्याता** हो सकता है, जिसने अपनी इन्द्रियों और मन को वश में कर लिया हो। प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा से जो सविकल्पक अवस्था है, उसमें विषय कषायों को दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पञ्च-परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी **ध्येय** होते हैं। फिर जब चित्त स्थिर हो जाता है, तब शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव निज शुद्धात्मा का स्वरूप ध्येय होता है (द्रष्टव्य-वृहदद्रव्यसंग्रह तृतीयाधिकार गाथा ५५ की ब्रह्मदेवकृत वृत्ति)। ध्येय पदार्थ में निश्चलता एवं स्थिरता को **ध्यान** कहते हैं तथा इस धर्मध्यान के द्वारा शुभाशुभ आस्रवों का निरोध तथा कर्मों के आंशिक झरने रूप निर्जरा होती है। अतः संवर और निर्जरा **ध्यान** का **फल** है।

देश-काल-अवस्था-रीति

देशः कालश्च सोऽन्वेष्य सा चावस्थानुगम्यताम् ।
यदा यत्र यथा ध्यानमपविघ्नं प्रसिद्ध्यति ।। ३९ ।।

अर्थ—ध्यान करने वाले व्यक्ति को देश, (क्षेत्र) व काल का भली प्रकार से अध्ययन करके व उस अवस्था का भी सुष्ठुरीति परिशीलन करे जिससे जिस क्षेत्र में, जिस समय में व जिस रीति से ध्यान किया जाय, उसमें किसी प्रकार की बाधा न आते हुए निर्विघ्नरीत्या वह सम्पन्न हो जाय ।। ३९ ।।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

विशेष—प्राय: यह कहा जाता है कि हम तो अल्पश्रुत हैं, अतः ध्यान कैसे सम्भव है और पञ्चम काल में मोक्ष होता नहीं है, अतः ध्यान करना निष्फल है। इसी भ्रान्ति को निर्मूल करने के लिए कहा गया है कि सब परिस्थितियों को देखकर भी जितना सम्भव हो ध्यान अवश्य करना चाहिये। बृहद्द्रव्यसंग्रह की वृत्ति मे ब्रह्मदेव ने ऐसी ही शंका उठाकर समाधान प्रस्तुत किया है। उसे यहाँ मूल रूप से उद्धृत कर रहे हैं—

—"मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते न चाद्यकाले मोक्षोऽस्ति; ध्यानेन किं प्रयोजनम् ? नैवं, अद्य कालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति। कथमिति चेत् ? स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनां लब्ध्वा शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति। येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गताः तेऽपि पूर्वभवे भेदाभेदरत्नत्रयभावनया संसारस्थितिं स्तोकं कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः। तद्भवे सर्वेषां मोक्षा भवतीति नियमो नास्ति। एवमुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्.......।" (तृतीयाधिकार गाथा ५७ की वृत्ति)

बिना विशेष ध्यान साधना के सिद्धि प्राप्त करने के रूप में प्रसिद्ध भरत चक्रवर्ती का नाम भी यहाँ पूर्व भव में ध्यान साधना करने वालों में ग्रहण किया गया है। अतः यह भूल नहीं करना चाहिये कि भरत की तरह हमें भी दीक्षा लेते ही तत्काल केवलज्ञान हो जायेगा। क्योंकि उनके वर्तमान भव के पीछे पूर्ववर्ती जन्म-जन्मान्तरों की साधनायें स्थित हैं।

उक्त आठ प्रकार से ध्यान के वर्णन की प्रतिज्ञा

इति संक्षेपतो ग्राह्यमष्टांगं योगसाधनम्।
विवरीतुमदः किंचिदुच्यमानं निशम्यताम् ॥ ४० ॥

अर्थ—इस प्रकार से योग को साधन के लिये कारणीभूत, जो संक्षेप से आठ अंग कहे गये हैं, उनको अंगीकार करना चाहिये। अतः आगे इन्हीं आठ अंगों का विवेचन किया जाता है, उसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥४०॥

विशेष—यहाँ अष्टांग योगसाधन से तात्पर्य उन आठ ध्यातव्य बातों से है, जिनका विवेचन सैंतीसवें श्लोक में किया जा चुका है। अष्टांग योग साधन को इस रूप में ग्रहण किया जा सकता है—

१. **ध्याता**—(ध्यान करने वाला निस्पृही साधु)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **ध्यान**—(ध्येय पदार्थ में निश्चलता)
३. **ध्यान का फल**—(संवर एवं निर्जरा)
४. **ध्येय**—(ध्यान करने योग्य पदार्थ)
५. **विषय**—(जिसका ध्यान करना हो)
६. **स्थान**—(ध्यान योग्य निर्विघ्न स्थान)
७. **समय**—(जब ध्यान करना हो)
८. **रीति**—(जिस प्रकार ध्यान करना हो)।

ध्याता का स्वरूप

तत्रासन्नो भवेन्मुक्तिः किञ्चिदासाद्य कारणम् ।
विरक्तः कामभोगेभ्यस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥ ४१ ॥
अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ।
तपःसंयमसम्पन्नः प्रमादरहिताशयः ॥ ४२ ॥
सम्यग् निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः ।
आर्त्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिकः ॥ ४३ ॥
मुक्तलोकद्वयापेक्षः षोढाशेषपरीषहः ।
अनुष्ठित क्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ॥ ४४ ॥
महासत्त्वः परित्यक्तदुर्लेश्याऽशुभभावनः ।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः ॥ ४५ ॥

अर्थ—अर्थात् जो निकट भविष्य में कार्य मूल से छूटने वाला है। उनमें जिसके मुक्ति समीपवर्तिनी हो, जो किसी कारण को पाकर काम-भोगों से विरक्त हो, समस्त परिग्रहों का त्यागी हो, जिसने श्रेष्ठ आचार्य के पास जाकर जैनधर्मोक्त दीक्षा को ग्रहण कर लिया हो, जो तपस्या एवं संयम से सम्पन्न हो, प्रमाद से रहित हृदय वाला हो जिसने ध्यान करने योग्य जीवादि पदार्थों की अवस्था का अच्छी तरह से निर्णय कर लिया हो, जो आर्त एवं रौद्र ध्यानों के परित्याग से चित्त की निर्मलता को प्राप्त हो, दोनों लोकों की अपेक्षा से रहित हो, सम्पूर्ण परीषहों को सहन करने वाला हो, समस्त क्रियाओं का अनुष्ठान कर चुका हो, ध्यान-योग के विषय में उद्यमशील हो, महान् बलशाली हो तथा जिसने अशुभ लेश्याओं एवं अशुभ ध्यानों का त्याग कर दिया हो—इस प्रकार के इन लक्षणों वाला नरपुंगव ध्याता धर्मध्यान के योग्य माना गया है ॥४१-४५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—अमितगतिश्रावकाचार में पन्द्रहवें परिच्छेद के २४–२९ श्लोकों में धर्म्यध्यान के ध्याता का विस्तार से वर्णन किया है। वहाँ कहा गया है कि जो स्वभाव से कोमल परिणामों से युक्त हो, कषायरहित हो, इन्द्रियविजेता हो, ममत्व रहित हो, अहंकार रहित हो, परीषहों को पराजित करने वाला हो, हेय और उपादेय तत्त्व का ज्ञाता हो, लोकाचार से पराङ्मुख हो, कामभोगों से विरक्त हो, भवभ्रमण से भयभीत हो, लाभालाभ, सुखदुःख, शत्रुमित्र, प्रियाप्रिय, मानापमान एवं जीवनमरण में समभाव का धारक हो, आलस्यरहित हो, उद्वेग रहित हो, निद्राविजयी हो, दृढासन हो, अहिंसादि सभी व्रतों का अभ्यासी हो, सन्तोषयुक्त हो, परिग्रहरहित हो, सम्यग्दर्शन से अलंकृत हो, शान्त हो, सुन्दर एवं असुन्दर वस्तु के प्रति अनुत्कण्ठित हो, भय रहित हो, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करने वाला हो, श्रद्धा गुण से युक्त हो, कर्मशत्रुओं को जीतने में शूरवीर हो, वैराग्ययुक्त हो, मूर्खता रहित हो, निदान रहित हो, पर की अपेक्षा से रहित हो, शरीर रूपी पिंजरे को भेदने का इच्छुक हो और अविनाशी शिवपद को जानने का अभिलाषी हो—ऐसा ध्याता भव्य पुरुष प्रशंसनीय होता है।

गुणस्थान की अपेक्षा धर्म्यध्यान के स्वामी

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः ।
धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः ॥ ४६ ॥

अर्थ—अप्रमत्त, प्रमत्त, अविरति सम्यग्दृष्टि एवं देशसंयत ये चार तत्त्वार्थ में धर्मध्यान के स्वामी कहे गये हैं ॥ ४६ ॥

विशेष—(१) अप्रमत्त अर्थात् सप्तम गुणस्थानवर्ती, प्रमत्त अर्थात् षष्ठम गुणस्थानवर्ती, सद्दृष्टि अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती ये चारों अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक के सम्यग्दृष्टि जीव धर्मध्यान के अधिकारी हैं। मिथ्यादृष्टियों को धर्मध्यान नहीं हो सकता है। आदिपुराण (२१/५५-५६), ज्ञानार्णव (२८), ध्यानस्तव (१५-१६) में भी धर्म्यध्यान के स्वामियों का निर्देश करते हुए उसका सद्भाव असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त संयत तक चार गुणस्थानों में माना गया है। इन सभी का आधार तत्त्वार्थवार्तिक का धर्म्यध्यान के स्वामिविषयक निर्देश है। तत्त्वानुशासन के इस श्लोक में गृहीत 'तत्त्वार्थे' पद के द्वारा सम्भवतः तत्त्वार्थवार्तिक की ही सूचना दी गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मध्यान के भेद

मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा ।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम् ।। ४७ ।।

अर्थ—इनमें मुख्य और उपचार के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का होता है। अप्रमत्त नामक (सप्तम) गुणस्थान वालों में वह मुख्य और अन्य (चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ) गुणस्थान वालों में औपचारिक होता है ।। ४७ ।।

विशेष—धर्म्यध्यान के स्वामियों के विषय में पर्याप्त मतवैभिन्य रहा है। तत्त्वार्थसूत्र में 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्' कहकर भेदों के विषय में तो उल्लेख किया गया है, किन्तु स्वामियों के विषय में कथन नहीं है। सर्वार्थसिद्धि टीका में अवश्य 'तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति' कहकर चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक के स्वामित्व का निर्देश किया है। बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में इसे और स्पष्ट किया गया है—

'अतः परम् आर्तरौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयसंज्ञं चतुर्भेदभिन्नं तारतम्यबुद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्तिजीवसम्भवम् ।' (बृहद्द्रव्यसंग्रह ४८ की टीका ।)

यहाँ प्रकृत श्लोक में केवल इतना निर्देश किया गया है कि धर्म्यध्यान मुख्य और उपचार के भेद से दो प्रकार का होता है। मुख्य धर्म्यध्यान अप्रमत्त संयत नामक गुणस्थानवर्ती के तथा शेष (अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तविरत नामक) गुणस्थानवर्तियों के उपचार धर्म्यध्यान होता है।

सामग्री के भेद से ध्याता व ध्यान के भेद

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा ।
ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।। ४८ ।।

अर्थ—चूँकि ध्यान की उत्पत्ति के लिये कारणीभूत द्रव्यक्षेत्रादि रूप सामग्री तीन प्रकार की है अतः ध्यान करने वाले व्यक्तियों के तीन प्रकार हैं तथा उन व्यक्तियों का ध्यान भी तीन प्रकार का है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्रादि सामग्री उत्तम मध्यम व जघन्य के भेद से तीन प्रकार की है अतः उसके निमित्त से ध्याता व ध्यान भी तीन प्रकार के हैं ।। ४८ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः॥
—क्षत्रचूड़ामणि

क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में आचार्यश्री ने ध्यान की सामग्री बताते हुए ध्याता के मुख्य चिह्न बताये हैं—वैराग्य, तत्त्वों का ज्ञान, परिग्रह-त्याग, साम्यभाव और परीषहजय।

कैसा ध्याता ध्यान योग्य है? जिनाज्ञा पर श्रद्धान करने वाला, साधु का गुणकीर्तन करने वाला, दान, श्रुत, शील, तप. संयम में तत्पर, प्रसन्न-चित्त, प्रेमी, शुभयोगी, शास्त्राभ्यासी, स्थिरचित्त, वैराग्यभावना में तत्पर ये सब धर्म्यध्यानी के बाह्य व अन्तरंग चिह्न हैं। शरीर की निरागता, विषय लम्पटता व निष्ठुरता का अभाव, शुभ गन्ध, मल-मूत्र अल्प होना इत्यादि भी ध्याता के बाह्य चिह्न हैं।

वज्रवृषभनाराचसंहनन आदि उत्तम संहननधारी निर्ग्रन्थ साधु उत्तम ध्याता हैं। तीन हीन संहनन के धारक निर्ग्रन्थ मुनि मध्यम ध्याता हैं तथा चतुर्थ पञ्चम गुणस्थानवर्ती जघन्य ध्याता हैं। उत्तम ध्याता का ध्यान उत्तम होता है तद्भव से मुक्ति को प्राप्त कराता है। मध्यम ध्याता का ध्यान सात-आठ भवों में सिद्ध सुख प्राप्त कराता है। तथा जघन्य ध्याता का ध्यान अर्द्धपुद्गल परावर्तन से अधिक भव्यजीव को संसार में रहने नहीं देता। अथवा अति संक्षेप में ध्याता दो प्रकार के हैं—प्रारब्ध योगी और निष्पन्न योगी। शुद्धात्म भावना को प्रारम्भ करने वाले पुरुष सूक्ष्म सविकल्पावस्था में प्रारब्ध योगी कहे जाते हैं और निर्विकल्प शुद्धात्मावस्था में निष्पन्न योगी कहे जाते हैं।

(पं० का०/ता० वृ०)

उत्तम-मध्यम-जघन्य ध्यान

सामग्रीतः प्रकृष्टायाः ध्यातरि ध्यानमुत्तमम्।
स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम्॥ ४९॥

अर्थ—उत्तम सामग्री का योग मिलने पर ध्यान करने वाले व्यक्ति में उत्तम दर्जे का ध्यान होता है व जघन्य सामग्री का योग मिलने पर उसी व्यक्ति के जघन्य दर्जे का, व मध्यम दर्जे की सामग्री का सम्पर्क स्थापित होने पर मध्यम दर्जे का ध्यान होता है॥ ४९॥

विशेष—ध्यान की उत्पत्ति के कारणभूत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामग्री तीन प्रकार की है, इसलिये ध्याता व ध्यान भी तीन प्रकार के हैं। उत्तम सामग्री से ध्यान उत्तम होता है, मध्यम से मध्यम और जघन्य से जघन्य।

उत्तम वज्रवृषभनाराचसंहनन, कर्मभूमि, चतुर्थ काल में शुक्लध्यान धारक योगी उत्तम ध्यान के बल से मुक्तावस्था प्राप्त करते हैं। वज्रवृषभ-नाराचसंहनन तथा वज्रनाराचसंहनन, कर्मभूमि, चतुर्थ काल में शुक्ल-ध्यान के पृथक्त्ववितर्क वीचार मध्यम ध्यान के ध्याता एक-दो भव लेकर मुक्त होते हैं। तथा तीन हीन संहनन के धारक, कर्मभूमि, पञ्चम काल के जीव धर्म्यध्यान की सिद्धि कर निकट भव्यता को प्राप्त करते हैं।

अल्पश्रुतज्ञानी भी धर्म्यध्यान का धारक

श्रुतेन विकलेनापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योधर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ ५० ॥

अर्थ—अच्छी तरह से विकास को प्राप्त हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसा ध्यान करने वाला व्यक्ति यदि श्रेणी (उपशम या क्षपकश्रेणी) चढ़ने के पहिले-पहिले वह श्रुतज्ञान से विकल भी हो अर्थात् उसका पूर्ण विकास भी न हुआ हो फिर भी वह धर्म-ध्यान का अधिकारी कहा गया है ॥ ५० ॥

विशेष—इसमें आदिपुराण का अनुकरण किया गया है। आदिपुराण की शब्दावली भी लगभग यही है। वहाँ कहा गया है—

'श्रुतेन विकलेनापि स्याद् ध्याता मुनिसत्तमः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः ॥' २१/१०२

यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि अधःश्रेण्योः (दोनों श्रेणियों के नीचे) कहने से क्या अभिप्राय है? दोनों श्रेणियों से नीचे धर्म्यध्यान के अस्तित्व की सूचना आगे ८३वें श्लोक में पुनः दी गई है। वहाँ कहा गया है कि पञ्चम काल में जिनेन्द्र भगवन्तों ने शुक्लध्यान का निषेध किया है, किन्तु दोनों श्रेणियों के पहले रहने वाले लोगों के धर्म्यध्यान माना है। यहाँ श्रेणियों के नीचे का अभिप्राय चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थान तक धर्म्यध्यान को मानना अभीष्ट है।

धर्म्यध्यान का प्रथम लक्षण

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥ ५१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—धर्म के ईश्वर गणधरादि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र को धर्म कहते हैं। इसलिए उस धर्म से युक्त जो चिन्तन है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं ॥ ५१ ॥

विशेष—रत्नकरण्डश्रावकाचार में उपर्युक्त 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः' श्लोकार्ध ज्यों का त्यों आया है। तत्त्वानुशासन में यह अंश रत्नकरण्डश्रावकाचार से ही ग्रहण किया गया है। ध्यानस्तव में भी 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि' पाद (श्लोक १४) रत्नकरण्डश्रावकाचार से ही ग्रहण किया गया है। वहाँ धर्म्यध्यान का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा गया है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि मोहक्षोभविवर्जितः ।
यश्चात्मनो भवेद्भावो धर्मः शर्मकरो हि सः ॥
अनपेतं ततो धर्माद् धर्म्यध्यानमनेकधा ॥

अर्थात् जीव का मोह-क्षोभ से रहित जो भाव होता है उसका नाम धर्म है और वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र स्वरूप होकर मोक्ष सुख का कारण है। उस धर्म से अनपेत धर्म्यध्यान भी अनेक प्रकार का है। ध्यानस्तव के इस कथन में तत्त्वानुशासन के प्रकृत एवं अग्रिम श्लोक का अत्यन्त साम्य है। ध्यानस्तव के इस कथन में तत्त्वानुशासन का स्पष्ट प्रभाव है।

धर्म्यध्यान का द्वितीय लक्षण

आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः ।
स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्मात्तद्धर्म्यमित्यपि ॥ ५२ ॥

अर्थ—मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम है, वह धर्म कहलाता है। उस धर्म से उत्पन्न जो ध्यान है, वह धर्म्यध्यान है—ऐसा भी कहा है ॥ ५२ ॥

विशेष—जो ध्यान धर्म से सम्पन्न होता है, उसे धर्म्यध्यान कहा गया है। प्रसंगतः यहाँ पर धर्म के स्वरूप का विचार करते हुए सर्वप्रथम मोक्ष-क्षोभरहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है। ध्यानशतक में भी कहा गया है—

'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि मोहक्षोभविवर्जितः ।
यश्चात्मनो भवेद्भावो धर्मः शर्मकरो हि सः ॥
अनपेतं ततो धर्माद् धर्म्यध्यानमनेकधा ॥ १४-१५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जीव का मोह के क्षोभ से रहित जो भाव होता है, उसका नाम धर्म है और वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्‌चारित्र स्वरूप होकर मोक्षसुख का कारण है। उस धर्म से सम्पन्न ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है।

ध्यानशतक के इस विवेचन पर तत्त्वानुशासन का स्पष्ट प्रभाव है।

धर्म्य लक्षण

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः ।
तस्माद् वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥ ५३ ॥

अर्थ—यदि यह संसार स्वभाव से न रहता तो शून्य हो जाता, और चूँकि यह संसार स्वरूप से स्थिर रहता है इसलिए बड़े-बड़े योगीजन वस्तु स्वरूप को धर्म कहते हैं। ॥ ५३ ॥

विशेष—धर्म के स्वरूप पर यहाँ प्रकारान्तर से विचार किया गया है। यहाँ वस्तु के स्वरूप को धर्म कहा है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वस्तु के स्वरूप को धर्म मानने का कथन सर्वप्रथम किया है—'वत्थुसहावो धम्मो।' जीवादि पदार्थों में जो जिसका स्वभाव है, वही धर्म कहलाता है। धर्म का यह व्यापक स्वरूप है। धर्मध्यानी योगी को धर्म के इस व्यापक स्वरूप का विचार करना चाहिये।

धर्म्यध्यान का लक्षण

ततोऽनपेतं यज्ज्ञातं तद्धर्म्यं ध्यानमिष्यते ।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥ ५४ ॥

अर्थ—उस वस्तु स्वरूप से युक्त जो ज्ञान है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं वस्तु के याथात्म्य को ऋषि प्रणीत-धर्म-ग्रन्थों में धर्म माना गया है ॥ ५४ ॥

विशेष—(१) वस्तुस्वरूप धर्म से सम्पन्न ध्यान को धर्म्यध्यान कहा जाता है। यह धर्म्यध्यान का निरुक्तिपरक दूसरा अर्थ है।

अथवा

जिससे धर्म का परिज्ञान होता है वह धर्म्यध्यान समझना चाहिये।

(भ० आ०)

(२) पापकार्य की निर्वृत्ति और पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति का मूल कारण एक सम्यग्ज्ञान है इसलिए मुमुक्षु जीवों के लिये सम्यग्ज्ञान ही धर्म्यध्यान श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है—(र० सा० मू० १७)। राग-द्वेष को त्याग कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् साम्यभाव से जीवादि पदार्थों का वे जैसे-जैसे अपने स्वरूप में स्थित हैं वैसे-वैसे ध्यान या चिन्तवन करना धर्म्यध्यान कहा गया है।
(ज्ञा० सा० १७)

धर्म्यध्यान का चतुर्थ लक्षण

यस्तूत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतया परः।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—अथवा उत्तम क्षमा आदि जो दश प्रकार का धर्म कहा गया है, उससे सम्पन्न होनेवाला जो ध्यान है, वह धर्म्यध्यान कहा गया है ॥ ५५ ॥

विशेष—कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्म को विभिन्न प्रचलित परिभाषाओं का समन्वय करते हुए प्रधानतया चार परिभाषायें दी हैं—

"धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥"
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८

इन चतुर्विध परिभाषाओं में क्षमादि दस प्रकार के भावों को भी धर्म कहा गया है। ध्यानशतक में 'उत्तमो वा तितिक्षादिर्वस्तुरूपस्तथापरः।' कह कर प्रकारान्तर से उत्तम क्षमा आदि को धर्म कहा है। यहाँ पर उत्तम क्षमादि दस प्रकार के धर्म से सम्पन्न ध्यान को धर्म्यध्यान कहा गया है।

ध्यान संवर व निर्जरा का हेतु

एकाग्रचिन्तारोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः।
तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—परिस्पन्द (चंचलता) से रहित जो एक पदार्थ की ओर चित्त वृत्ति को, अन्य पदार्थों से हटा कर, लगाये रखना सो ध्यान है। वह ध्यान कर्म निर्जरा व कर्मों के आगमन के रोकने के लिए कारण है ॥ ५६ ॥

विशेष—ध्यान में मन, वचन, काय निष्कम्प हो जाते हैं। योग की निष्कम्पता से कर्मों का आस्रव एवं बन्ध बिल्कुल नहीं होता है और पूर्वबद्ध कर्मों की अविपाक निर्जरा हो जाती है। यद्यपि पूर्ण संवर एवं निर्जरा तो चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में होती है तथा वहाँ आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध परमात्मा हो जाता है। किन्तु चौथे गुणस्थान से लेकर भी आगे तक संवरपूर्वक निर्जरा होती रहती है। अतः योगी को चाहिये कि बुद्धि-पूर्वक मन, वचन, काय को रोककर स्थिर बैठे तथा ध्याता-ध्येय एकमेव हो जाये। ध्यान से संवर एवं निर्जरा का कथन देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में भी किया है—

'मणवयणकायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं।
चिरबद्धइ गलइ सइं फलरहियं जाइ जोईणं॥ ३२॥'

एकाग्र चिन्तारोध पद का अर्थ

एकं प्रधानमित्याहुरग्रमालम्बनं मुखम्।
चिन्तां स्मृतिं निरोधं तु तस्यास्तत्रैव वर्तनम्॥ ५७॥

अर्थ—एक कहते हैं प्रधान को, अग्र कहते हैं मुख को या आलम्बन को चिन्ता कहते हैं स्मरण को, और उसके (चिन्ता के) वहीं अग्रभाग में लगे रहने को निरोध कहते हैं॥ ५७॥

विशेष—आचार्य अकलंकभट्ट ने कहा है "एकः शब्दः संख्यापदम्।" (तत्त्वार्थराजवार्तिक) अर्थात् एक संख्या वाचक होने से यहाँ पर प्रधान अर्थ में विवक्षित है अग्र शब्द 'आलम्बन' तथा 'मुख्य' अर्थ में प्रयुक्त है। और चिन्ता को स्मृति कहा है। जो तत्त्वार्थसूत्र में कथित "स्मृति समन्वाहारः" का वाचक है।

ध्यान का लक्षण

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम्।
तत्र चिन्तानिरोधो यस्तद् ध्यानं बभणुर्जिनाः॥ ५८॥

अर्थ—वस्तु के द्रव्य व पर्यायात्मक स्वरूप में से जिसमें प्रधानता स्थापित की हो, उसी स्वरूप में चिन्ता के लगाये रखने को, जिनेन्द्रदेव ध्यान कहते हैं॥ ५८॥

विशेष—(१) ध्यानशतक में हरिभद्रसूरि ने कहा है कि एकाग्रता को प्राप्त मन का नाम ध्यान है। इसके विपरीत जो अस्थिर मन है, उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है। यहाँ पर जो चिन्ता-निरोध का नाम ध्यान कहा गया है, वह अस्थिर मन का निरोध अथवा ऐकाग्र्य ही है। अन्तर्मुहुर्त काल तक एक वस्तु में चित्त का अवस्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छद्मस्थों का ध्यान है तथा योगों का निरोध जिन-केवलियों का ध्यान है।

(२) ध्यानस्तव में भास्करनन्दि ने अनेक पदार्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के एक पदार्थ में नियन्त्रण को ध्यान कहा है तथा उसके जड़ता या तुच्छता रूप होने का निषेध किया है—

'नानालम्बनचिन्तायाः यदेकार्थे नियन्त्रणम्।
उक्तं देव ! त्वया ध्यानं न जाड्यं तुच्छतापि वा ॥ ६ ॥'

व्यग्रता अज्ञान और एकाग्रता ध्यान

एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये।
व्यग्रं ह्यज्ञानमेव स्याद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥

अर्थ—यहाँ (ध्यान के स्वरूप में) एकाग्रता का ग्रहण व्यग्रता या चञ्चलता को अलग करने के लिए है। क्योंकि व्यग्रता अज्ञान है और एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है ॥ ५९ ॥

विशेष—अन्य पदार्थों की चिन्ता को छोड़कर एक पदार्थ का चिन्तन करना ही यहाँ पर व्यग्रता या चञ्चलता का अभाव कहा गया है। ध्यान के स्वरूप में जो एकाग्रता का ग्रहण किया गया है, उससे व्यग्रता का अभाव अभिप्रेत है। चञ्चलता अज्ञान रूप है तथा एकाग्रता ध्यान रूप है। चञ्चलता और एकाग्रता में परस्पर वैपरीत्य सम्बन्ध है।

प्रसंख्यान, समाधि और ध्यान की एकता

प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानालम्बनवर्तिनीम्।
एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥ ६० ॥
तदास्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—कषायादि मल के निकल जाने से निर्मल हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसा योगी, नाना वस्तुओं में लगी हुई चिन्ता को (विचारों को) उनसे खींचकर एक पदार्थ के चिंतवन में ही लगाये रखता है, उसमें ही रोके रखता है, तब उस योगी का वह योग, अपने अभीप्सित मनोरथ की सिद्धि करने वाला ध्यान कहलाता है। उसी को चिंता का एक ओर लगाये रखना, प्रसंख्यान, समाधि का ध्यान कहते हैं ॥ ६०-६१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा को अग्र कहने का कारण

अथवांगति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः ।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिदि स्मृतः ॥ ६२ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए ध्यान के लक्षण में आये हुए पदों का निरुक्ति से भी अर्थ घटित करते हुए आचार्य कहते हैं कि "अंगति जानाति इति अग्रं" जो जानता हो उसका नाम अग्र है इस निरुक्ति से अग्र शब्द का अर्थ हुआ आत्मा तथा चूँकि माने गये तत्त्वों में सबसे पहले गिना जाता है, इसलिये भी आत्मा को अग्र कहते हैं ॥ ६२ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः केवलो वा तथोदितः ।
अतःकरणवृत्तिस्तु चिंतारोधो नियंत्रणा ॥ ६३ ॥
अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिंतांतरव्ययः ।
एकचिंतात्मको यद्वा स्वसंविच्चिंतयोज्झितः ॥ ६४ ॥

अर्थ—द्रव्यार्थिक नय से आत्मा एक अथवा केवल कहा गया है। अन्तःकरण की वृत्तियों का नियन्त्रण चिन्तारोध कहलाता है। अभाव को निरोध कहते हैं और वह चिन्ताओं का नाश होना है। अथवा अन्य चिन्ताओं से रहित जो एकचिन्तात्मक आत्मा का ज्ञान है, वह अग्र आत्मा कहलाता है ॥ ६३-६४ ॥

चिन्ताओं के अभावरूप ध्यान और ज्ञानमय आत्मा एक ही

तत्रात्मन्यसहाये यच्चिंतायाः स्यान्निरोधनम् ।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः ॥ ६५ ॥

अर्थ—एक का अर्थ है सहाय रहित तथा अग्र का अर्थ है आत्मा उसमें जो मनोवृत्ति को लगाये रखना सो ध्यान है। इसी को अन्य चिन्ताओं का नाश कहते हैं, जो कि स्वसंवित्तिमय है ॥ ६५ ॥

ध्यान व ध्यान का फल

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमितिनिश्चलम् ।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानमांतर्मुहूर्ततः ॥ ६६ ॥

अर्थ—रागद्वेष से रहित, यथार्थ, अत्यन्त निश्चल श्रुतज्ञान को ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं, जो अन्तर्मुहूर्त तक रहता है व स्वर्ग तथा मोक्ष रूप फल को देनेवाला है ॥ ६६ ॥

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥

—तत्त्वार्थसूत्र ९/२७

उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।

"चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्"—चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है। (स० सि०)

निश्चयनयापेक्षा—इष्टानिष्ट बुद्धि के मूल मोह का छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है उस चित्त की स्थिरता को ध्यान कहते हैं। (अ० ध०)

व्याकरणशास्त्र से ध्यान का अर्थ

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है अथवा जो ध्यान किया जाता है वह ध्यान है। अथवा जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है और ध्यान मात्र ध्यान कहलाता है ॥ ६७ ॥

श्रुतज्ञानरूप स्थिर मन ही वास्तविक ध्यान

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—चूँकि योगी लोग श्रुतज्ञान रूपी मन के द्वारा ध्यान करते हैं, इसलिए वास्तव में श्रुतज्ञान रूपी स्थिर मन ध्यान कहलाता है ॥ ६८ ॥

ज्ञान और आत्मा की अभिन्नता

ज्ञानादर्थांतरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान से भिन्न या पृथक् सत्ता रखनेवाला पदार्थ नहीं है तथा ज्ञान भी आत्मा से पृथक् सत्ता रखनेवाला पदार्थ नहीं है। इसलिये पूर्वापरीभूत जो एक ज्ञान है उसको ही आत्मा कहते हैं ॥ ६९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ २३ ॥
—प्रवचनसार

आत्मा को ज्ञान के बराबर और ज्ञान को ज्ञेय पदार्थों के बराबर कहा है अतः आत्मा और ज्ञान अभिन्न जानना चाहिये। आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी प्रवचनसार में लिखते हैं कि ज्ञान आत्मा में भेद नहीं है क्योंकि ज्ञान आत्मा को छोड़कर नहीं रहता, अतः ज्ञान आत्मा ही है।

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३५ ॥
—प्रवचनसार

जो जानता है वही ज्ञान है। ज्ञान गुण के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञायक नहीं होता। किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमन करता है और सब ज्ञेय पदार्थ ज्ञान में स्थित हैं।

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा ध्याता और ध्यान की अभिन्नता

ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते ।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥

अर्थ—ध्येय पदार्थ का अवलम्बन करना ध्यान कहलाता है। क्योंकि वह ध्यान ध्याता से भिन्न नहीं होता है; इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ध्याता ही ध्यान कहा जाता है ॥ ७० ॥

कर्म और अधिकरण दोनों ध्यान

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः ।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—निश्चयनय का आश्रय लेने वाले पुरुषों के द्वारा ध्याता में ही ध्येय का ध्यान किया जाता है, इसलिए कर्मकारक और अधिकरण कारक (क्रमशः ध्येय और ध्याता) दोनों ध्यान कहलाते हैं ॥ ७१ ॥

विशेष—आचार्य पूज्यपाद उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥—इष्टोपदेश

अर्थात् अपना आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं प्रकाशमान भली प्रकार से जाना जाता है। शरीर के बराबर अविनाशी अनन्त सुख वाला लोकालोक को जानने वाला है और भी कहा है "आत्मा का ध्यान आत्मा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा आत्मा में करने पर आत्मस्वभाव में स्थित होने पर परीषह और उपसर्गों के आने पर भी उनका ज्ञान नहीं होता"। यही कर्मकारक और अधिकरणकारक की अभेद विवक्षा है।

सन्तानवर्तिनी स्थिर बुद्धि ध्यान

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी।
ज्ञानांतरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥ ७२ ॥

अर्थ—अभीष्ट ध्यान करने योग्य पदार्थ में जो अन्य ज्ञान को परामर्श न करने वाली सन्तानवर्तिनी अर्थात् अनेक क्षणों तक रहने वाली स्थिर बुद्धि है, वह ध्याति अथवा ध्यान कही गई है ॥ ७२ ॥

विशेष—समस्त आत्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास करने वाली क्रियाएँ, सभी आत्मविकासोन्मुखी चेष्टाएँ ध्यान से ही सिद्ध होती हैं अतएव ध्यान पर आचार्यों ने विशेष और विविध दृष्टिकोण से विचार किया है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है "चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्"।

—स० सि० ९/२०

अर्थात् चित्तविक्षेप के त्याग अथवा एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। अनगारधर्मामृत में कहा है कि इष्टानिष्ट बुद्धि के हेतु मोह का छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है, उसी चित्त की स्थिरता को ध्यान कहते हैं।

ध्यान में द्रव्य पर्याय या किसी भी एक पदार्थ को प्रधान करके चिन्तन किया जाता है और चित्त को अन्य विषयों में जाने से निरुद्ध कर दिया जाता है। यही ध्यान की सरल परिभाषा है, जो सभी ध्यानों के साथ संगति करती है।

षट्कारकमयी आत्मा का नाम ही ध्यान है

एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयान्नयात् ॥ ७३ ॥
स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षटकारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥

अर्थ—ज्यादा कहाँ तक कहें, निश्चयनय से देखा जाय तो एक जो ध्यान है, वही कर्त्ता है, कर्म है, करण है, अधिकरण है और फल है। ऐसा क्यों माना गया है, इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं, चूँकि निश्चयनय की अपेक्षा इस आत्मा के द्वारा (कर्त्ता, करण) स्वयं के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये (संप्रदान) अपनी ही आत्मा से (अपादान) अपनी आत्मा में (अधिकरण), स्व-आत्मा का (संबंध) चितवन किया जाता है अतः छह कारक रूप जो आत्मा है उसका ही नाम ध्यान है ॥ ७३-७४ ॥

ध्यान की सामग्री

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥

अर्थ—समस्त परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, व्रतों का धारण तथा मन एवं इन्द्रियों की विजय यह सब ध्यान की उत्पत्ति में कारण सामग्री है ॥ ७५ ॥

विशेष—यहाँ पर ध्यान की उत्पत्ति में आवश्यक सामग्री का कथन किया गया है। परिग्रहत्याग, कषायनिग्रह एवं व्रतधारण तभी संभव है, जब मन एवं इन्द्रियों की विजय हो जाये। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। इसका ज्ञानोपयोग चञ्चल है। पाँचों इन्द्रियों के द्वारा रागवश यह विषयों को ग्रहण करता है तथा मन के द्वारा तर्क-वितर्क में फँसा रहता है। यदि ज्ञानोपयोग इन्द्रियों एवं मन के द्वारा कार्य करना बन्द कर दे तब इन्द्रियों एवं मन का व्यापार बन्द हो जायेगा और ऐसी अवस्था में ज्ञानोपयोग आत्मा में ही रहेगा तथा आत्मा का ध्यान हो जायेगा। देवसेनाचार्य ने कहा है—

'थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे।
पयडइ बंभसरूवं अप्पाझाणेण जोईणं ॥ २९ ॥

—तत्त्वसार

अर्थात् मन के संकल्पों के बन्द हो जाने पर इन्द्रियों का विषय-व्यापार अवरुद्ध हो जाता है तब आत्मा के भीतर परमब्रह्म परमात्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है।

मन को जीत लेने पर इन्द्रियों की विजय

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ७६ ॥

अर्थ—इन्द्रियों की प्रवृत्ति व निवृत्ति करने में मन ही समर्थ है इसलिये मन को ही वश में करना चाहिये, मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर आत्मा जितेन्द्रिय सहज ही होता है ॥ ७६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—मन अनियत आकांक्षाओं का आगार है अतः इसे अनिन्द्रिय कहा है। पाँचों इन्द्रियरूपी घोड़ों की दौड़ अपनी-अपनी सीमा में है जबकि मन रूपी बन्दर की चाल बेलगाम के घोड़े की तरह असीमित है। मन की दशा कैसी है उसका कल्पना चित्र खींचते हुए एक कवि ने लिखा है—

एक विशाल हाल में चारों तरफ काँच लगा दीजिये, उसमें बन्दर को छोड़िये। बन्दर के हाथ में छड़ी दे दीजिये और उसे शराब पिलाकर छोड़ दीजिये। उसकी जो दशा है वही दशा इस मनरूपी बन्दर की है। जब तक यह नहीं जीता जाता तब तक इन्द्रियों को जीतना भी अशक्य है। कवि कहता है—

"मन के हारे हार है मन के जीते जीत।"

मन विजयी हो गया तो सारा संसार जीत लिया ऐसा समझो। क्योंकि—

"जगत् गुरु तो सब मिले, मन का गुरु न कोय।
जो मन का गुरु नहीं, वह जगत् गुरु न होय॥"

संयम, साधना ध्यान की कसौटी पर जीवन को कसकर मन को वश किया जाता है। यह मन कैसा है—

"मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर।
मन के मते न चालिये, पलक-पलक मन ओर॥"

चपल, लोभी मन के अनुसार चलने वाला जीव कभी सुखी नहीं होता। फिर इसका निग्रह कैसे किया जाय? आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज समयसार में लिखते हैं—

विज्जारहमारूढ़ो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठि मुणेयव्वो॥ २३६॥

हे भव्यात्माओं! यदि मन को जीतना चाहते हो तो विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मनरूपी रथ के चलने के मार्ग में भ्रमण करो।

ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इन्द्रियों की विजय

ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रियवाजिनः॥ ७७॥

अर्थ—अपने मन को जीत लेने वाला व्यक्ति हमेशा कुमार्ग में जाने वाले इन्द्रिय रूपी घोड़ों को ज्ञान एवं वैराग्य रूपी रस्सियों से पकड़ सकता है॥ ७७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—जिसने मन पर विजय प्राप्त कर ली है ऐसे व्यक्ति के द्वारा नित्य ही हिंसादि पाप रूप कुमार्ग की ओर मुड़ने वाले इन्द्रिय रूपी घोड़े, ज्ञान व वैराग्य रूपी लगाम के द्वारा वश में किये जा सकते हैं अर्थात् मन का जीतने वाला पुरुष ही ज्ञान व वैराग्य की सहायता से इन्द्रियों को अपने वश में कर सकता है।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात् ॥ १३६ ॥
—समयसार कलश

सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है। क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपना यथार्थस्वरूप का अभ्यास करने को अपने स्वरूप का ग्रहण और पर के त्याग की विधि कर "यह तो अपना स्वरूप है और यह परद्रव्य का है ऐसे दोनों का भेद परमार्थ से जानकर अपने स्वरूप में ठहरता है और परद्रव्य से सब तरह राग-द्वेष, त्याग, हिंसादि पापों रूप कुमार्ग का त्याग कर मन इन्द्रिय को विजय करता है। सो यह मन और इन्द्रिय का विजयपना ज्ञान वैराग्य शक्ति के बिना नहीं होता।

चंचल मन का नियंत्रण

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥

अर्थ—ध्यान में जिस उपाय से चंचल मन को नियंत्रित किया जा सकता हो, उसकी ही उपासना करना चाहिये। उससे विरत नहीं होना चाहिये ॥ ७८ ॥

विशेष—मन की चंचलता का चित्रण करते हुए एक कवि ने कल्पना में अपने सुन्दर शब्दों का चयन किया है—

मेरा मनवा, कभी तो भागे जल में, कभी तो दौड़े थल में,
गलि ना भगवान की, कैसे रोकूँ गति मन बेईमान की ?
इसकी दौड़—मैंने कहा कि चल पूजन कर ले, पर ये बॉम्बे दौड़ गया,
मैंने माला लेकर फेरा, ये पहुँचा पनघट पे
बड़ा है सैलानी ना सोचे अभिमानी बात कल्याण की
कैसे रोकूँ.................

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाख करो, इक ठौर सके ना ऐसा है ये आवारा।
जाने कितनी चाह समेटे, फिरता मन का बंजारा॥
जितनी लहरें इस मन में हैं, क्या होंगी सागर की
कभी तो घर की बातें, कभी व्यापार की
कैसे रोकूँ..............

मन का नियंत्रण दुर्धर है, मन का नियंत्रण कैसे हो? जिनने मन को जीता उसी की वन्दना है—

ऋषि मुनि तक रोक न पाये, कौन इसे समझायेगा।
सचमुच वे हैं वन्दनीय जिनने इस मन को मारा॥
पथिक! इसको रोका कि पल-पल टोका, ध्यान की कमान से
तभी रुकी गति मन बेइमान की............ ...

ध्यान की कमान द्वारा इस चंचल मन को रोका जा सकता है अतः प्रत्येक भव्यात्माओं को ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

मन को जीतने के उपाय

संचितयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः॥ ७९॥

अर्थ—स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों से पराङ्मुख (उदासीन) हुआ साधु, अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करता हुआ व हमेशा ही स्वाध्याय में तत्पर होता हुआ, मन को अवश्य ही वश में कर लेता है॥ ७९॥

विशेष—जिस प्रकार अहमिन्द्र देव अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार जो अहमिन्द्र के समान अपने-अपने कार्यों में नियत है, अपने-अपने कार्यों में स्वतन्त्र हैं वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं। ये इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण। एक इन्द्रिय का कार्य दूसरी नहीं कर सकती। स्पर्श का विषय-छूना, रसना का विषय स्वाद लेना, घ्राण का विषय सूँघना, चक्षु का विषय देखना तथा कर्णेन्द्रिय का विषय सुनना है। एक-एक इन्द्रिय के वश हुआ जीव अपना सर्वस्व खो बैठता है—

"अलि पतंग मृग मीन गज, याके एक ही आन्च।
तुलसी वाकी का गति जिनके पीछे पाँच॥"

हे आत्मन्! मन पर विजय पाने के लिये पञ्चेन्द्रिय विषयों से पराङ्-मुख होना आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनित्यानि शरीराणि, वैभवो न हि शाश्वत।
नित्य सन्निहितो मृत्यु, धर्म एको हि निश्चल ॥

अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करने से ज्ञान वैराग्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और जब ज्ञान व वैराग्य की शक्ति समृद्ध हो जाती है तभी मन नियन्त्रित हो जाता है—

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगनतैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई चिन्तौ अनुप्रेक्षा भाई ॥

वैराग्य को उत्पन्न करने वाली बारह माताओं का बार-बार चिन्तवन करने से यह जीव संसार-शरीर और भोगों से विरक्त होता है। वे बारह माताएँ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ व धर्म अनुप्रेक्षाएँ हैं।

ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः। आलस्य त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय है।—(स० सि ९/२०)

"स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः"। अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है।—(चा०सा०)

स्वाध्यायी आत्मा ही सहजता से इन्द्रियों पर विजय पा सकता है तथा स्वाध्यायी आत्मा ही बारह अनुप्रेक्षाओं का सुष्ठुरीत्या चिन्तन कर सकता है यथा—शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, परद्रव्य माता-पितादि कोई शरण नहीं, मेरा आत्मा ही मुझे शरण है, व्यवहार में पञ्चपरमेष्ठी भी शरण हैं। संसार दुःखों का घर है, यहाँ मेरा कोई स्थान नहीं है, मेरा निवास मुक्तिपुरी शाश्वत है। मैं एक हूँ, शरीर अनेक हैं। मैं अन्य हूँ मुझ से भिन्न सर्व पदार्थ अन्य हैं। शरीर अपवित्र है, मैं सदा पवित्र, पावन हूँ। कर्मों का आस्रव मेरा स्वभाव नहीं विभाव है। संवर, निर्जरा के बिना मेरा आत्मा चौदह राजू लोक में भ्रमण करता रहा है। संसार में धन-कनक-कामिनी-राज्य वैभव आदि की प्राप्ति सुलभ है किन्तु एकत्वविभक्त शुद्धचिदानन्द चेतन प्रभु के समीचीन ज्ञान की प्राप्ति अति कठिन है।

इस प्रकार बारह भावनाओं में चिन्तन करने वाला वैरागी आत्मा एकत्वविभक्त आत्मा की प्राप्ति में सतत उद्यमी हो, मन को जीत कर शुद्धात्मा में लीन हो जाता है।

पञ्चनमस्कार मंत्र जाप एवं शास्त्रों का पठन-पाठन स्वाध्याय

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥ ८० ॥

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

अर्थ—एकाग्र चित्त से पंच णमोकार मंत्र का जप करना, सबसे बड़ा स्वाध्याय है अथवा जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों का पढ़ना सो भी परम स्वाध्याय कहलाता है ॥ ८० ॥

विशेष—जिण सासणस्स सारो, चउद्दस पुव्वाणं समुद्दारो।
जस्स मणे णमोक्कारो, संसारो तस्स किं कुणई॥

जो जिनशासन का सारभूत है, ग्यारह अंग चौदह पूर्वों का उद्धार रूप है ऐसा णमोकार मंत्र जिसके हृदय में है, संसार उसका क्या कर सकता है?

णमोकार मंत्र किसे कहते हैं?—जिस मंत्र में परमपद में स्थित परम आराध्य देव अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों को नमस्कार किया जाता है उसे णमोकार मन्त्र कहते हैं। यह मन्त्र अनादि-निधन है। इसमें ५ पद, ५८ मात्राएँ तथा ३५ अक्षर हैं। इस मन्त्र का जाप १८४३२ प्रकार से बोला जा सकता है। भावपूर्वक इस मन्त्र का जाप्य करना सबसे बड़ा स्वाध्याय है तथा जिनेन्द्र कथित, गणधर गूँथित व मुनियों के द्वारा प्रसारित जिनवाणी का वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश विधि से अध्ययन करना स्वाध्याय है।

पढ़े हुए ग्रन्थ का पाठ करना, व्याख्यान करना वाचना है, पृच्छना—शास्त्रों के अर्थ को किसी दूसरे से पूछना। अनुप्रेक्षा—बारम्बार शास्त्रों का मनन करना। आम्नाय—शुद्ध उच्चारण करते हुए पढ़ना। धर्मोपदेश—समीचीन धर्म का उपदेश देकर भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग में लगाना।

णमोकार मन्त्र का एक बार भी भावपूर्वक स्मरण करने वाले ने ग्यारह-अंग चौदह पूर्वों का अध्ययन कर लिया है ऐसा समझना चाहिये।

ध्यान और स्वाध्याय से परमात्मा का ज्ञान

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ ८१ ॥

अर्थ—स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास होता है और ध्यान से स्वाध्याय की वृद्धि होती है। ध्यान एवं स्वाध्याय रूपी सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है॥ ८१॥

विशेष—स्वाध्याय को समाप्त कर लेने पर ध्यान करना चाहिये और ध्यान करने से भी ऊब जाने पर स्वाध्याय करने में लग जाना चाहिये,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण कि ध्यान और स्वाध्याय करते रहने से ही परमात्मा कर्म मल रहित शुद्ध आत्मा-प्रकाशित होने लगता है।

पञ्चमकाल में ध्यान न मानने वाले अज्ञानी

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।
तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ।। ८२ ।।

अर्थ—इस विषय में जो लोग कहते हैं कि यह पञ्चमकाल ध्यान का समय नहीं है, वे लोग अपने आपकी अर्हन्त भगवान् के मत की अज्ञानता को स्वयं प्रकट करते हैं ।। ८२ ।।

विशेष—इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में की है—

'संकाकंखागहिया विसयवसत्था सुमग्गयब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई णहु कालो होइ झाणस्स ।। १४ ।।

अर्थात् जो लोग ऐसा कहते हैं कि यह ध्यान के योग्य काल नहीं है, वे वास्तव में शंकाग्रस्त, विषयासक्त और सुमार्ग से भ्रष्ट हैं। कुछ लोग पञ्चमकाल में मोक्ष न हो सकने से ध्यान की भी असंभवता का कथन करते हैं। वे वास्तव में तत्त्वज्ञान से शून्य, प्रमादी एवं विषयभोगों में सुख मानने वाले लोग हैं। सम्यग्दृष्टि कभी भी ऐसा नहीं कह सकता है, वह तो निरन्तर आत्म-प्रभावना में उद्योगी बना रहता है तथा आत्म-ध्यान करने का पुरुषार्थ करता है। वह अपने पुरुषार्थ में दुःखमा पञ्चम-काल को बाधक होने का बहाना नहीं करता है।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।। ७६ ।।

—मोक्षपाहुड

अर्थात् भरतक्षेत्र में इस पञ्चमकाल में मुनि के धर्म्यध्यान होता है वह धर्म्यध्यान आत्म-स्वभाव में स्थित साधु के होता है ऐसा जो नहीं मानता है वह अज्ञानी है। अभी जिस ध्यान का निषेध है वह शुक्लध्यान है। मात्र शुक्लध्यान का निषेध पञ्चमकाल में आचार्यों ने कहा है, इससे ध्यान मात्र का लोप करना श्रुत का अवर्णवाद ही समझना चाहिये।

पञ्चमकाल में शुक्लध्यान का निषेध श्रेणी के पूर्व धर्मध्यान का कथन

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम् ।। ८३ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—इस समय यहाँ जिनेन्द्र भगवन्तों ने शुक्लध्यान का निषेध किया है किन्तु श्रेणियों (उपशम एवं क्षपक) के पहले रहने वाले लोगों के धर्म्यध्यान को कहा है ।। ८३ ।।

विशेष—पञ्चमकाल में धर्म्यध्यान हो सकता है। इस तथ्य का कथन करते हुए देवसेनाचार्य ने लिखा है—

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं ।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वांगं ।। १५ ।।

—तत्त्वसार

अर्थात् आज भी इस पंचमकाल में मध्यलोकवासी मानव आत्मा का ध्यान करके स्वर्गलोक को जा सकते हैं तथा वहाँ से च्युत हो मानव जन्म धारण करके मोक्ष को पा सकते हैं।

वज्रवृषभनाराचसंहननी के ही ध्यान का कथन शुक्लध्यान की अपेक्षा से

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम् ।। ८४ ।।

अर्थ—और जो वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले के ध्यान होता है—ऐसा आगम में कथन है वह श्रेणियों (उपशमक एवं क्षपक) में होने वाले ध्यान (शुक्लध्यान) के प्रति कहा गया है। वह कथन नीचे के गुणस्थानों में ध्यान का निषेध करने वाला नहीं है ।। ८४ ।।

विशेष—वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तम संहनन हैं। इनमें मुक्ति प्राप्ति का कारण प्रथम वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है। ध्यान तप का लक्षण करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तारोधोध्यानमान्तर्मुहूर्तात् । ९/२७

अर्थात् उत्तम संहनन वाले का अन्तर्मुहूर्त तक एकाग्रतापूर्वक चिन्ता का निरोध ध्यान कहलाता है।

उत्तम संहननधारी ही श्रेणी पर आरोहण करके आठवें गुणस्थान पर जा सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्र का कथन प्रशस्त ध्यान की प्रधानता की अपेक्षा है। क्योंकि धर्म्यध्यान तो हीन संहनन वालों के भी हो सकता है, परन्तु इसका काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त ही होगा। आजकल तीन उत्तम संहनन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते ही नहीं हैं, केवल तीन हीन संहनन होते हैं। इसलिये सप्तम गुणस्थान तक ही जीव की सत्ता है। धर्म्यध्यान में मन्दकषाय का होना आवश्यक है। कषायों की मन्दता तारतम्य से चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक होती है। अतः धर्म्यध्यान भी इन गुणस्थानों में हो सकता है। आगम में पंचमकाल में ध्यान का अभाव शुक्लध्यान की अपेक्षा वर्णित समझना चाहिये, धर्म्यध्यान की अपेक्षा से नहीं। इसी कारण तत्त्वानुशासन में आगे पाँच कारिकाओं में धर्म्यध्यान के निरन्तर अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है।

शक्त्यनुसार धर्म्यध्यान करणीय

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥ ८५ ॥

अर्थ—अगम, अगाध आगम समुद्र के पार पहुँचे हुए, ध्यान करने वाले मुनि यदि वर्तमान समय में नहीं पाये जाते हैं तो क्या इसका यह अर्थ है कि अल्प श्रुतज्ञान के धारी अन्य मुनिगणों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार ध्यान (धर्म्यध्यान) नहीं करना चाहिये ? नहीं, ऐसा अर्थ कभी भी नहीं लगाया जा सकता ॥ ८५ ॥

विशेष—द्वादशांग श्रुतज्ञान ग्यारह अंग और चौदह पूर्वमय विशाल है। इसमें १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ अर्थात् एक कम इकट्ठी प्रमाण अंगप्रविष्ट और अंग बाह्यश्रुत के समस्त अपुनरुक्त अक्षर हैं। द्वादशांग के समस्त पद एक सौ बारह तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच हैं।

धर्म्यध्यान के लिये द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान, अथवा अंग पूर्व का ज्ञान हो ही यह आवश्यक नहीं, मात्र अष्टप्रवचनमातृका (५ समिति ३ गुप्ति) का ज्ञान अपने आप में मुक्ति का साधक है। देवागमस्तोत्र में समन्तभद्र आचार्य लिखते हैं—

अज्ञानान्मोहिनो बन्धः नाऽज्ञानाद्वीत-मोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ ९८ ॥

मोह रहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है। मोह सहित अल्पज्ञान अथवा बहुज्ञान भी बंध का कर्ता है। तात्पर्य है कि धर्म्यध्यान के लिये अल्पज्ञान वालों को भी प्रयत्न/पुरुषार्थ करना चाहिए। अल्पज्ञान है अतः ध्यान नहीं कर सकते हैं ऐसा बहाना करना आलसी प्रमादियों का काम है, मोक्षार्थी ऐसा अनर्थ कभी नहीं करते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्त्यनुसार तप धारणीय

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति ।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ।। ८६ ।।

अर्थ—यदि इस पंचमकाल में यथाख्यातचारित्र के परिपालन करने वाले नहीं पाये जाते हैं, तो क्या अन्य तपस्वी गण अपनी शक्ति के अनुसार अन्य चारित्र का आचरण नहीं करें ? नहीं, उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार, यथाख्यातचारित्र से अतिरिक्त चारित्रों का आचरण करना चाहिये ।। ८६ ।।

विशेष—संसारकारणनिवृत्तिप्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्त-क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । —सर्वार्थसिद्धि

जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के उद्यत हैं उसके कर्मों के ग्रहण करने निमित्तभूत क्रिया के त्याग को सम्यक्चारित्र कहते हैं । —सर्वार्थसिद्धि २ सूत्र

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ।। ४५ ।।
—द्रव्यसंग्रह

जो अशुभ (बुरे) कार्य से दूर होना और शुभ कार्य में प्रवृत्त होना अर्थात् लगना है उसको चारित्र जानना चाहिये । श्री जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से उस चारित्र को ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिस्वरूप कहा है ।

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम् । —त० सू० ९ अ० १८ सू०

सामान्यपने से एक प्रकार चारित्र है अर्थात् चारित्रमोह के उपशम क्षय व क्षयोपशम से होनेवाली आत्म विशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है । बाह्य व अभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार व निश्चय की अपेक्षा दो प्रकार का है । या प्राण संयम व इन्द्रिय संयम की अपेक्षा दो प्रकार का है । औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है अथवा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य विशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का है । चार प्रकार के यति की दृष्टि से या चतुर्यम की अपेक्षा चार प्रकार का है, अथवा छद्मस्थों का सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग इस तरह ४ प्रकार का है । सामायिक, छेदोपस्थापना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात के भेद से ५ प्रकार का है। इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामों की दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प रूप होता है।

गुरूपदेश से ध्यानाभ्यास

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतम् ।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७ ॥

अर्थ—समीचीन गुरुओं के उपदेश से निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष, धारणाओं की पटुता, निपुणता, सुकरता या अनायास सिद्धि से, ध्यान तथा उसके कारणों को भी जानने लग जाता है ॥ ८७ ॥

विशेष—आत्मा के ध्यान में अनुपम शक्ति है। इससे योगी को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, योगी के ध्यान वाले वन में असमय में फलपुष्पों का आना, विरोधी प्राणियों का वैरभाव शान्त हो जाना आदि अतिशयों का बहुशः उल्लेख मिलता है। आत्मा के निर्मल भाव से अतिशय प्रकट हो जाता है। देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं—

'दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इन्दियत्थपरिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुडं अमाणसत्तं खणद्धेन ॥ ४२ ॥'

अर्थात् इन्द्रियों के विषय पराङ्मुख हो जाने पर आत्मा के निर्मल स्वभाव में जब स्वयं अपना आत्मा ही दिखने लगता है तब योगी को क्षणभर में मनुष्यों में असम्भव ऋद्धियाँ आदि प्राप्त हो जाती हैं।

अभ्यास से ध्यान की स्थिरता

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि ।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभेताभ्यासवर्तिनाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बार-बार अभ्यास से महान् शास्त्र भी स्थिर हो जाते हैं अर्थात् बड़े-बड़े शास्त्रों का दृढ़ ज्ञान हो जाता है, वैसे ही अभ्यास करने वालों का ध्यान भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है ॥ ८८ ॥

परिकर्म के आश्रय से ध्यान करणीय

यथोक्तलक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यथा ।
तदेव परिकर्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥ ८९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जिस प्रकार पूर्वकथित लक्षणों वाला ध्याता ध्यान करने के लिए उत्साह करता है, उसी प्रकार धीर बुद्धि वाला व्यक्ति परिकर्म आदि का आश्रय लेकर ध्यान करे ।। ८९ ।।

ध्यान करने योग्य स्थान-काल-विधि व पदार्थ

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि ।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ।। ९० ।।
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे ।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ।। ९१ ।।
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत् ।। ९२ ।।
नासाग्रन्यस्तनिष्पंदलोचनं मंदमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ।। ९३ ।।
प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रत्यनतः ।
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ।। ९४ ।।
निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये ।। ९५ ।।

अर्थ—सूने मकान में अथवा गुफा में दिन में अथवा चाहे रात्रि में, स्त्री, पशु एवं नपुंसक प्राणियों तथा क्षुद्र जीवों के अगोचर स्थान में, दूसरी जगह कहीं प्रशस्त, प्रासुक एवं समतल स्थान में, चेतन एवं अचेतन के द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण ध्यान के विघ्नों से रहित पृथिवीतल अथवा शिलापट्ट पर सुखपूर्वक बैठकर अथवा सीधा एवं लम्बा खड़ा होकर निष्कम्प अंगों वाले शरीर को धारण करता हुआ, नासिका के अग्र भाग पर लगाये गये निश्चल नेत्रों वाला मन्द-मन्द साँसों को लेता हुआ बत्तीस दोषों से रहित कायोत्सर्ग को धारण करे। इन्द्रिय रूपी लुटेरों को उनके विषयों से प्रयत्नपूर्वक हटाकर, सभी पदार्थों से चिन्ता को दूर कर ध्यान करने योग्य वस्तु में अपने को लगाकर, नींद को दूर कर भय एवं आलस्य से रहित होकर लगातार अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए स्वरूप अथवा पररूप का ध्यान करना चाहिये ।। ९०-९५ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय व व्यवहार ध्यान

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे ।
स्वरूपालंबनं पूर्वं परालंबनमुत्तरम् ।। ९६ ।।

अर्थ—निश्चयनय एवं व्यवहारनय के भेद से आगम में दो प्रकार का ध्यान कहा गया है। प्रथम अपने आत्मा के अवलम्बन से और द्वितीय परपदार्थ के अवलम्बन से होता है ॥ ९६ ॥

निश्चय ध्यान आत्मा से अभिन्न और व्यवहार ध्यान भिन्न

अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते ।
भिन्ने हि विहिताभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः ।। ९७ ।।

अर्थ—आद्य जो निश्चय ध्यान है वह अभिन्न है उसमें स्व तथा पर का एवं ध्यान-ध्याता-ध्येय का तथा कर्त्ता-कर्म-करण-संप्रदानाधिकरण का भेद पाया जाता है। भिन्न (व्यवहार) ध्यान में जिसने अभ्यास किया है वह निराकुल हो अभिन्न को ध्या सकता है ॥ ९७ ॥

विशेष—यहाँ व्यवहार ध्यानपूर्वक निश्चय ध्यान बताया गया है धवल पुस्तक १३ में कथन है कि चेतन तथा अचेतन पुद्गल आदि भी ध्येय हैं। केवल ज्ञानानन्द आत्मा ही ध्येय नहीं है।

यह शरीर सप्त धातुमय है और सूक्ष्म पुद्गल कर्मों के द्वारा उत्पन्न हुआ है, उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध है इनके संयोग से आत्मा द्रव्य-भावरूप कलंक से अनादिकाल से मलिन हो रहा है। इस कारण इसके बिना विचारे ही अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं। उन विकल्पों के निमित्त से परिणाम निश्चल नहीं होते। उनके निश्चल करने के लिए स्वाधीन चिन्तवनों से चित्त को वश में करना चाहिए। वह स्वाधीन चिन्तन किसी आलम्बन से ही होता है। प्रारम्भ अवस्था में किसी आलम्बन बिना चित्त स्थिर नहीं होता। अतः अरहन्तादि के आलम्बनपूर्वक ध्यान करना व्यवहार ध्यान है। इसके अनन्तर आत्म अभिन्नता रूप निश्चय ध्यान की सिद्धि होती है।

आज्ञापायो विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च ।
यथागममविक्षिप्तचेतसा चिन्तयेन्मुनिः ।। ९८ ।।

अर्थ—मुनि आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और लोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्थान (नामक धर्म्यध्यानों) का आगम के अनुसार आकुलता रहित चित्त से चिन्तन करे ।। ९८ ।।

विशेष—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनकी विचारणा के लिये मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है । अत्यन्त, सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को विषय करने वाला आगम है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय से रहित मात्र श्रद्धा करने योग्य पदार्थ में एक आगम की ही गति है । उसे आज्ञा कहते हैं । धवल पुस्तक १३, पृष्ठ ७१ पर कहा है कि जो सुनिपुण है, अनादि निधन है, जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों द्वारा सेवित हैं, अमूल्य हैं, अमित हैं, अजित हैं, महान् अर्थ वाली है, महानुभाव हैं, महान् विषय वाली है, निरवद्य हैं, अनिपुण-जनों को दुर्ज्ञेय है, नयभङ्गों तथा प्रमाण से गहन है, ऐसी जग के प्रदीप स्वरूप जिन भगवान् की आज्ञा का ध्यान करना चाहिए । संसार में दुःखों से संतप्त प्राणियों के दुःखों का निवारण का चिन्तन रूप अपाय विचय का उपदेश है । शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुए कर्मों के उदय से संसार रूपी आवर्त की विचित्रता का चिन्तवन करने वाले मुनिराज के जो ध्यान होता है उसे विपाक विचय कहते हैं । यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव के विषय में विशिष्ट चिन्तनपूर्वक होता है । तीनों लोकों के आकार का प्रमाण का तथा उसमें रहने वाले जीव-अजीव तत्त्वों का, उनकी आयु आदि का बार-बार चिन्तन करना संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान है ।

ध्येय के भेद

नाम च स्थापनं द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम् ।
समस्तं व्यस्तमप्येतद् ध्येमध्यात्मवेदिभिः ।। ९९ ।।

अर्थ—अध्यात्म के ज्ञाताओं के द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार प्रकार के ध्यान योग्य पदार्थों का समस्त रूप से एवं व्यस्त (अलग-अलग) रूप से ध्यान किया जाना चाहिये ।। ९९ ।।

विशेष—ध्येय का लक्षण—ध्येयमप्रशस्तप्रशस्तपरिणामकारणं—जो अशुभ तथा शुभ परिणामों का कारण हो उसे ध्येय कहते हैं ।

(चा० सा० १६७/२)

ध्येय के भेद—श्रुतमर्थाभिधानं च प्रत्ययश्चेत्यदस्त्रिधा । शब्द, अर्थ और ज्ञान इस तरह तीन प्रकार का ध्येय कहलाता है ।

(महा० पु० २१/१११)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्येय के भेदों का स्वरूप

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं भावः स्याद् गुणपर्ययौ ।।१००।।

अर्थ—वाच्य के वाचक को नाम कहते हैं। प्रतिमा स्थापना कही गई है। गुण एवं पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है तथा गुण और पर्यायें भाव हैं ।।१००।।

धर्म्यध्यान के दस भेद पाये जाते हैं—अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय। (चा० सा०)

संस्थानविचय धर्म्यध्यान पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार प्रकार का कहा है—

पदस्थंमन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं ।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ।।
(४८ / द्र० सं० टीका में उद्धृत)

मन्त्रवाक्यों में स्थिति पदस्थ ध्यान है, निजात्मा का चिंतवन पिण्डस्थ ध्यान है, सर्वचिद्रूप का ध्यान और निरंजन का (सिद्ध परमात्मा अथवा त्रिकाली शुद्धात्मा का) ध्यान रूपातीत ध्यान है।

पदस्थध्यान

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ।।

एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के पञ्चपरमेष्ठी वाचक पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। (वसु० श्रा० ४६४)

पदस्थध्यान के योग्य मूलमन्त्रों का निर्देश—

एकाक्षरी मन्त्र—(१) "अ" (२) प्रणवमन्त्र "ॐ" (३) अनाहतमन्त्र "ह्ँ" (४) माया वर्ण ह्रीं (५) झ्वीं (६) श्रीं।

दो अक्षरी मन्त्र—(१) "अर्हं" (२) सिद्ध।
तीन अक्षरी मन्त्र—(१) ॐ नमः (२) ॐ सिद्ध (३) सिद्धेभ्यः।
चार अक्षरी मन्त्र—(१) अरहंत / अरिहंत।

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

पञ्चाक्षरी मन्त्र—(१) अ सि आ उ सा (२) ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः (३) णमो सिद्धाणं (४) नमः सिद्धेभ्यः।

छः अक्षरी मन्त्र—(१) अरहंत सिद्ध (२) ॐ नमो अर्हते (३) अर्हद्भ्यो नमः (४) अर्हद्भ्यः नमोस्तु (५) ॐ नमः सिद्धेभ्यः (६) नमो अर्हत्सिद्धेभ्यः।

सप्ताक्षरी मन्त्र—(१) णमो अरहंताणं (२) नमः सर्व सिद्धेभ्यः।

अष्टाक्षरी मन्त्र— नमोऽर्हत्परमेष्ठिने।

१३ अक्षरी मन्त्र—अर्हत् सिद्धसयोगकेवली स्वाहा।

१६ अक्षरी मन्त्र—अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः।

३५ अक्षरी मन्त्र—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

पणतीस सोलछप्पणचदुदुगमेगं च जवह ज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥

पञ्चपरमेष्ठी वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्र हैं उनका जाप करने से असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है नवीन कर्मों का आस्रव रुककर ध्यान की सिद्धि होती है।

राजपंडित बंशीधरकृत मानसागरी पद्धति में महामन्त्र का ध्यान कैसे ? सुन्दर चित्रण लिखा है—

साधक का मूल लक्ष्य है—"आत्म जागरण"। आत्म जागरण का अर्थ है—निज का जागरण, आनन्द का जागरण, शक्ति का जागरण, अपने परमात्म स्वरूप का जागरण, अर्हत्स्वरूप का जागरण।

नमस्कार-महामंत्र—की साधना का समग्र दृष्टिकोण है—आत्मा का जागरण। पूरी चेतना को जगाना, शक्ति के स्रोतों का जाग्रत करना, आनन्द के महासागर में अवगाहन करना। महामन्त्र की आराधना से निर्जरा होती है, कर्मक्षय होता है आत्मा की विशुद्धि होती है। इस बात को मानकर जब चाहें तब इसका जाप कर सकते हैं। जब-जहाँ-जैसे भी हो चलते-फिरते-उठते-बैठते हर क्षण इसका जाप कर सकते हैं। णमोकार मंत्र के जाप्य की अनेक विधियाँ हैं जो सभी पदस्थ ध्यान में सम्मिलित की जाती हैं। श्री धवलराज महाग्रन्थ में आचार्यश्री ने इस जाप्य की तीन विधियाँ वर्णित की हैं—१. पूर्वानुपूर्वी २. पश्चातानुपूर्वी ३. यथातथ्यानुपूर्वी। यथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वानुपूर्वी	**पश्चातानुपूर्वी**
णमो अरहंताणं	णमो लोए सव्वसाहूणं
णमो सिद्धाणं	णमो उवज्झायाणं
णमो आइरियाणं	णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं	णमो सिद्धाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं ।	णमो अरहंताणं ।

यथातथ्यानुपूर्वी—

णमो अरहंताणं
णमो लोए सव्वसाहूणं
णमो आइरियाणं
णमो सिद्धाणं
णमो उवज्झायाणं

अथवा

णमो सिद्धाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो अरिहंताणं
णमो लोए सव्वसाहूणं
णमो आइरियाणं

तात्पर्य जैसे लड्डू को जिधर से भी खाओ मीठा ही मीठा होता है उसी प्रकार यथातथ्यानुपूर्वी विधि में णमोकार मन्त्र के पाँच पदों में से कोई भी पहले उठा लीजिये। शर्त इतनी ही है कि ध्याता ध्येय के प्रति सजग रहे। पाँच से अधिक पद न हों व पाँच से कम भी न हो।

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

उपर्युक्त चित्र इस यथातथ्यानुपूर्वी विधि का एक उदाहरण है। अंकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार पदों को उच्चारण ध्याता करे। अंक १. णमो अरहंताणं, अंक २. णमो सिद्धाणं, अंक ३ णमो आइरियाणं, अंक ४. णमो उवज्झायाणं और अंक ५. णमो लोए सव्वसाहूणं के प्रतीक हैं। ध्याता इस विधि से जाप्य करता है तो मन की एकाग्रता को प्राप्त कर अशुभकर्मों की असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा कर मुक्ति का भाजन बनता है।

यह महामन्त्र १८४३२ प्रकार से बोला जा सकता।

अट्ठेव य अट्ठसया, अट्ठसहस्स अट्ठलक्ख अट्ठकोडीओ।
जो गुणइ भत्ति जुत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं॥

जो भव्यजीव ८ करोड़, ८ लाख, ८ हजार, ८ सौ, ८ बार इस अनादि निधनमंत्र का जाप करता है वह शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

नवकार इक्कक्खरं पावं कडई सत्त सायराणं।
पन्नासं च पएणं सागर पणासया समग्गेणं॥ १॥
जो गुणई लक्खमेणं, पूएइ जिणनमुक्कारं।
तित्थयर नाम गोअं, सो बंधइ णत्थिसन्देहो॥ २॥

णमोकार मन्त्र के एक अक्षर का भी भक्तिपूर्वक नाम लेने से सात सागर के पाप कट जाते हैं, पाँच अक्षरों का पाठ करने से पचास सागर के पाप कट जाते हैं तथा पूर्ण मन्त्र का उच्चारण करने से पाँच सौ सागर के पाप कट जाते हैं।

जो श्वेतपुष्पों से णमोकार मन्त्र का एक लाख जाप्य करता है वह तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करता है इसमें कोई सन्देह नहीं चाहिए चाहिये।

णमोकार मंत्र को श्वासोच्छ्वास में जप करना सर्वोत्तम बताया है। एक णमोकार को तीन श्वासोच्छ्वास में पढ़ना चाहिये। यथा—णमो अरिहंताणं में श्वांस खींचना, णमो सिद्धाणं में श्वांस छोड़ना, णमो आइरियाणं में श्वांस खींचना, णमो उवज्झायाणं में श्वांस छोड़ना तथा णमो लोए में श्वांस खींचना सव्वसाहूणं में श्वांस छोड़ना। इस प्रकार कुंभक-रेचक द्वारा एक बार णमोकार मंत्रोच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास पूरे लगते हैं। यह विधि इष्ट सिद्धि, ऋद्धि, वृद्धि को कर ध्याता को गन्तव्य की ओर ले जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सब विधियों के अलावा कमल जाप की विधि भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है यथा—

कमल जाप

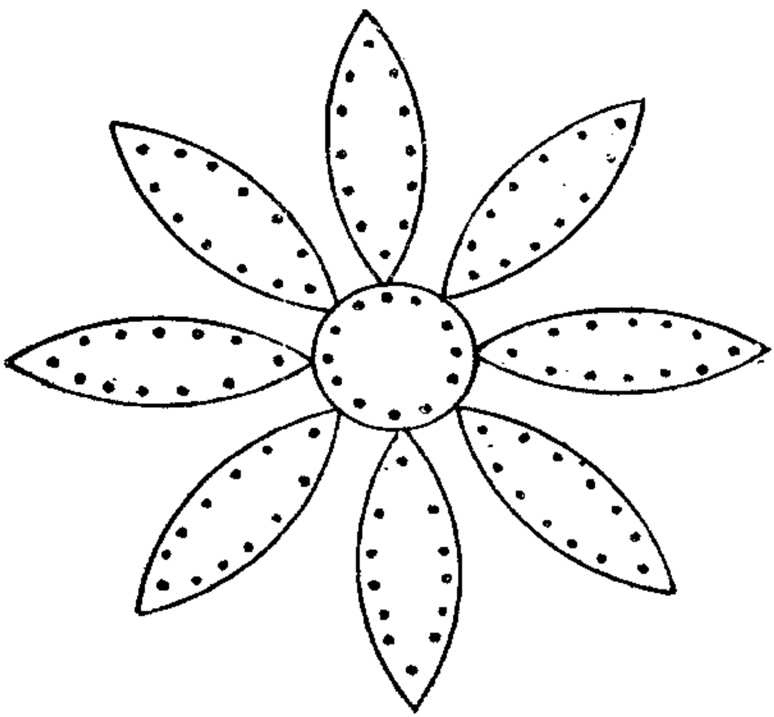

श्वेत कमल में ८ पांखुड़ियाँ हैं। एक-एक पंखुड़ी में १२-१२ पीत बिन्दु हैं। कर्णिका में १२ बिन्दु हैं। ८+१×१२ = १०८ जाप पूरे हो जाते। चञ्चल मन स्थिर करने के लिये व ध्यान की सिद्धि के लिये यह कमल जाप्य बहुत लाभकारी है। यह कमल हृदय में बनाकर ध्याता को ध्यान करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

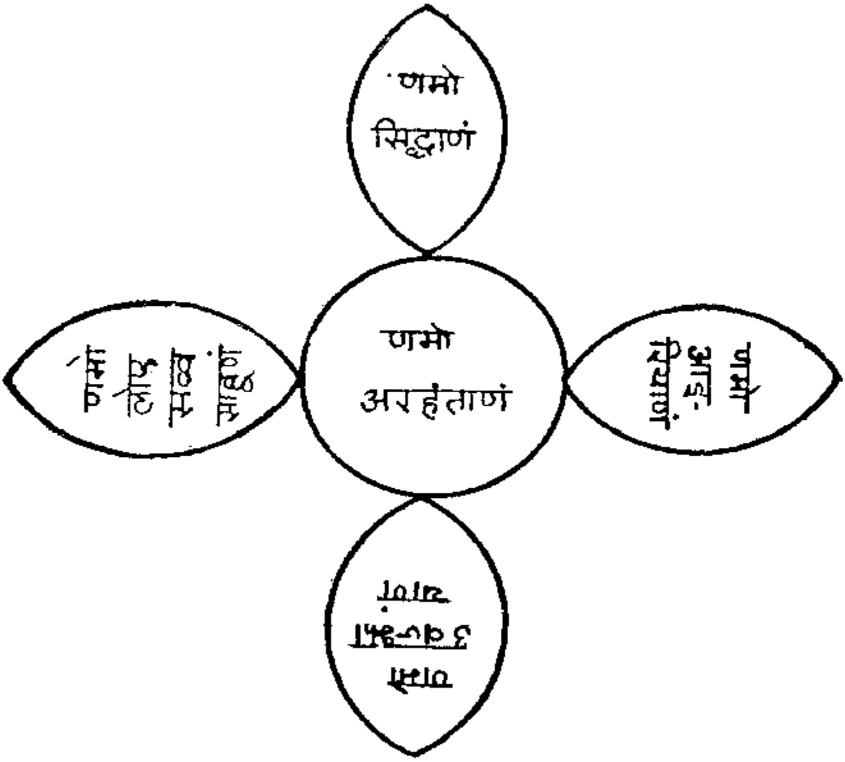

हृदय में चार पांखुड़ी का कमल बनाइये। पश्चात् प्रत्येक मन्त्रोच्चारण के साथ उस-उस पंखुड़ी में स्थित उन-उन परमेष्ठी की ओर दृष्टि लगाइये। पंचपरमेष्ठियों को इनमें विराजमान कर जाप्य कीजिये।

मूल मन्त्रों की कमलों में स्थापना विधि

१. स्वर्ण कमल की मध्य कर्णिका में "ह्रीं" की स्थापना करके उसका स्मरण करना चाहिये।

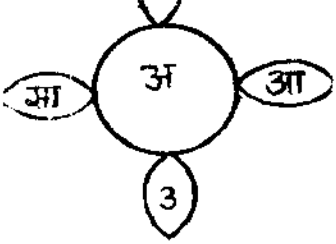

२. चतुर्दल कमल की कर्णिका में अ तथा चारों पत्तों पर क्रम से अ सि आ उ सा की स्थापना करके पंचाक्षरी मंत्र का चिंतन करे।

५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अष्टदल कमल पर कणिका में "अ" चारों दिशाओं वाले पत्तों पर सि, आ, उ, सा तथा विदिशाओं वाले पत्तों पर दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप के प्रतीक द, ज्ञा, चा, त की स्थापना करे।
(वसु० श्रा०)

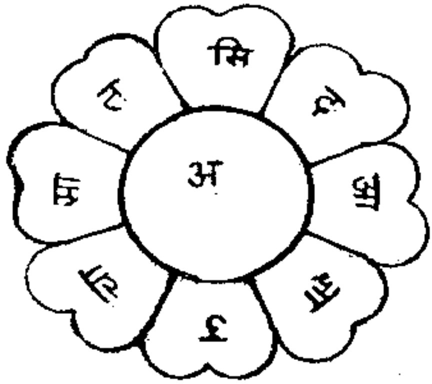

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे,
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे,
तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥

दो नेत्र, श्रवणयुगल, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु, भौंह ये दस स्थान ध्यान के समय चित्त को रोकने के लिये आलम्बन रूप कहे गये हैं।

श्लोकवार्तिककार आचार्यश्री ने मन्त्रों का जाप चार प्रकार से किया जा सकता है, इसके लिये बहुत सुन्दर कहा है—

"चतुर्विधा हि वाग्वैखरीमध्यमापश्यन्ती सूक्ष्माश्चेति।"

(१) वैखरी (२) मध्यमा (३) पश्यन्ति (४) सूक्ष्म।

पुनः-पुनः उन्हीं शब्दों को बोलना जप है—"जपः स्यादक्षरावृत्तिः"

१. **वैखरी**—जैसे जोर-जोर से बोलकर णमोकार मन्त्र का जप करें जिसे दूसरे लोग भी सुन लें वह वैखरी विधि कहलाती है। इसके शब्द बाहर बिखर जाते हैं। इस तरह के जाप में केवल चार आना लाभ होता है बारह आने जाप बिखर जाता है।

२. **मध्यमा**—इस विधि में होठ नहीं हिलते किन्तु अन्दर जीभ हिलती रहती है। आशाधरसूरि ने इसे उपांशु जाप कहा है। इसमें शब्द मुँह से बाहर नहीं आते।

३. **पश्यन्ति**—इस विधि में न होठ हिलाते हैं और न जीभ हिलती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें मात्र मन में ही चिन्तन करते हैं। इस जाप में सब संकल्प-विकल्प छोड़कर आत्मा स्वाभिमुख हो जाता है।

४. **सूक्ष्म**—मन में जो णमोकार मन्त्र का चिंतन था वह भी छोड़ देना सूक्ष्म जाप है। जहाँ उपास्य उपासक का भेद समाप्त हो जाता है। आत्मा परमात्मा का भेद समाप्त हो जाये, उसी का आधार यह सूक्ष्म जप है। अर्थात् जहाँ मंत्र का अवलम्बन छूट जाए तब ही सूक्ष्म जप है जैसा कि पूज्यपाद आचार्यश्री ने समाधिशतक में कहा है—

यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः॥ ३१॥

जप शब्द में दो अक्षर हैं—ज + प

ज = जकारो जन्म विच्छेदः

प = पकारो पापनाशनः तस्माज्जप इति प्रोक्त जन्मपापविनाशकः। जप को पदस्थ ध्यान के ही अन्तर्गत माना गया है।

जप या पदस्थ ध्यान जन्म-मरण की संतति व पापसमूह के लिये किया जाता है। सूक्ष्म जप निवृत्ति प्रधान है। यहाँ ध्याता-ध्येय में अभेद, अद्वैतभाव प्रगट होने लगता है''''ध्याता स्व में स्व की खोज में तल्लीन होने का प्रकट पुरुषार्थ कर पुकारने लगता है—

केवलसत्ति सहावो सोऽहं इदि चिंतए णाणी।

कवि रत्नाकर लिखते हैं—

तनु जिनमन्दिर, मनकमलासन त्यावरी चिन्मयतुंग यज जिनपद कमला निःसंग।

मेरा शरीर ही जिनमंदिर है, मन वेदी है और उस पर मेरा आत्मा विराजमान है वही परमात्मा है, भगवान् है, उसके सामने बैठकर मैं उसी की पूजा करता हूँ।

उस आत्मारूपी भगवान् का अभिषेक कैसे करें इसके लिये लिखा है—

ज्ञानगंगाजलि क्षालोनिनिर्मल, संचितपातक भंग यज जिनपद कमला निःसंग। (गुरुवाणी—आ० विद्यानंद जी)

अर्थात् अपने सम्यग्दर्शनरूपी जल से अपनी आत्मा का अभिषेक करें। यही सच्चा अभिषेक होगा।

श्री योगीन्दुदेव ने अमृताशीति ग्रन्थ में पदस्थ ध्यान की महिमा का चित्रण करते हुए लिखा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यं निष्कलं सकलमक्षयकेवलं वा,
सन्तः स्तुवन्ति सततं समभावभाजः ।
वाच्यस्य तस्य वरवाचकमंत्रयुक्तो,
हे पान्थ ! शाश्वतपुरीं विश निर्विशंक ॥ ३२ ॥

अशरीरी सिद्ध की तथा अविनश्वर केवलज्ञानधारी शरीर सहित अरहन्त की साम्यभावधारी सन्तपुरुष-साधुगण की जो निरन्तर स्तुति करते हैं उस वाच्यरूप सिद्ध या अर्हन्त की उसके वाचक श्रेष्ठ मन्त्र सहित आराधना करते हैं वे मोक्षमार्ग के पथिक निर्भय हो मुक्तिपुरी में प्रवेश करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जो अष्टगुणमंडित सिद्ध, परमौदारिक शरीर व अनंत चतुष्टय युत अर्हंत तथा समता रस के आस्वादी अर्हंतों का जो ध्यान करते हैं अथवा उनके वाचक मंत्र णमो अरहंताणं–णमो सिद्धाणं का आश्रय ले जाप करता हुआ एकलयता को प्राप्त करता है तथा एकाग्र होने पर उसी रूप अपने को मानता है "सोऽहं, सोऽहं" को ध्याते हुए सकार का भी त्याग कर अहं रूप हो तन्मय हो जाता है। अतः हे मुक्तिराही, प्रथम तुम अरहंत-सिद्ध वाचक मन्त्रों का अवलम्बन लो, फिर तद्रूप हो पदस्थ ध्यान के द्वारा निजस्वरूप में लीन हो जाओ, मुक्तिपुरी में प्रवेश पाओ ।

प्रणव मन्त्र की ध्यान विधि "ओम्"

ध्यान करने वाला ध्याता, संयमी हृदय कमल की कर्णिका में स्थिर और स्वर व्यञ्जन अक्षरों से बेढ़ा हुआ, उज्ज्वल, अत्यन्त दुर्धर्ष देव और दैत्यों के इन्द्रों से पूजित तथा झरते हुए मस्तक में स्थित चन्द्रमा की लेखा के (रेखा के) अमृत से आर्द्रित महाप्रभावसम्पन्न कर्मरूपी वन को दग्ध करने के लिये अग्नि समान ऐसे महातत्त्व, महाबीज महामन्त्र महापद-स्वरूप तथा शरद के चन्द्रमा के समान गौर वर्ण के धारक "ओं" को कुम्भक प्राणायाम से चिन्तन करें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

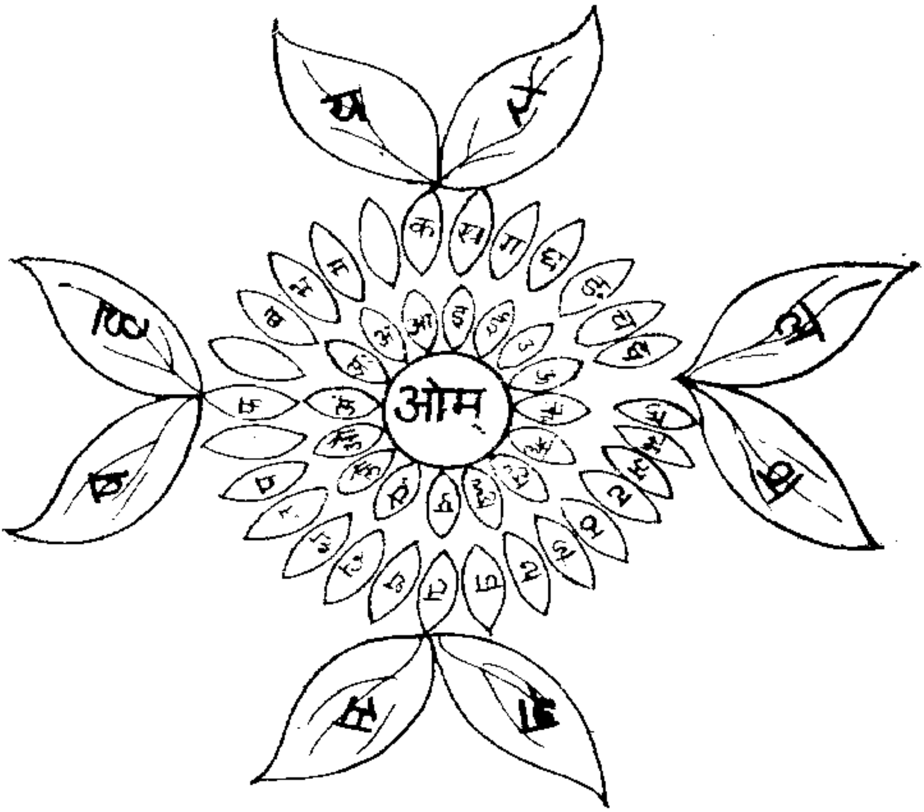

माया बीज ह्रीं की ध्यान विधि

माया बीज ह्रीं अक्षर को स्फुरायमान होता हुआ, अत्यन्त उज्ज्वल प्रभामण्डल के मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमल में संचरता हुआ तथा कभी-कभी उसकी कर्णिका के ऊपरी तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी उसकी कर्णिका के ऊपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी कमल के आठों दलों पर फिरता हुआ तथा कभी-कभी क्षणभर में आकाश में चलता हुआ, मन के अज्ञान अन्धकार को दूर करता हुआ, अमृतमयी जल से चूता हुआ तथा तालुआ के छिद्र से गमन करता हुआ तथा भोहों की लताओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मय में समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे माया वर्ण का चिन्तन करें।

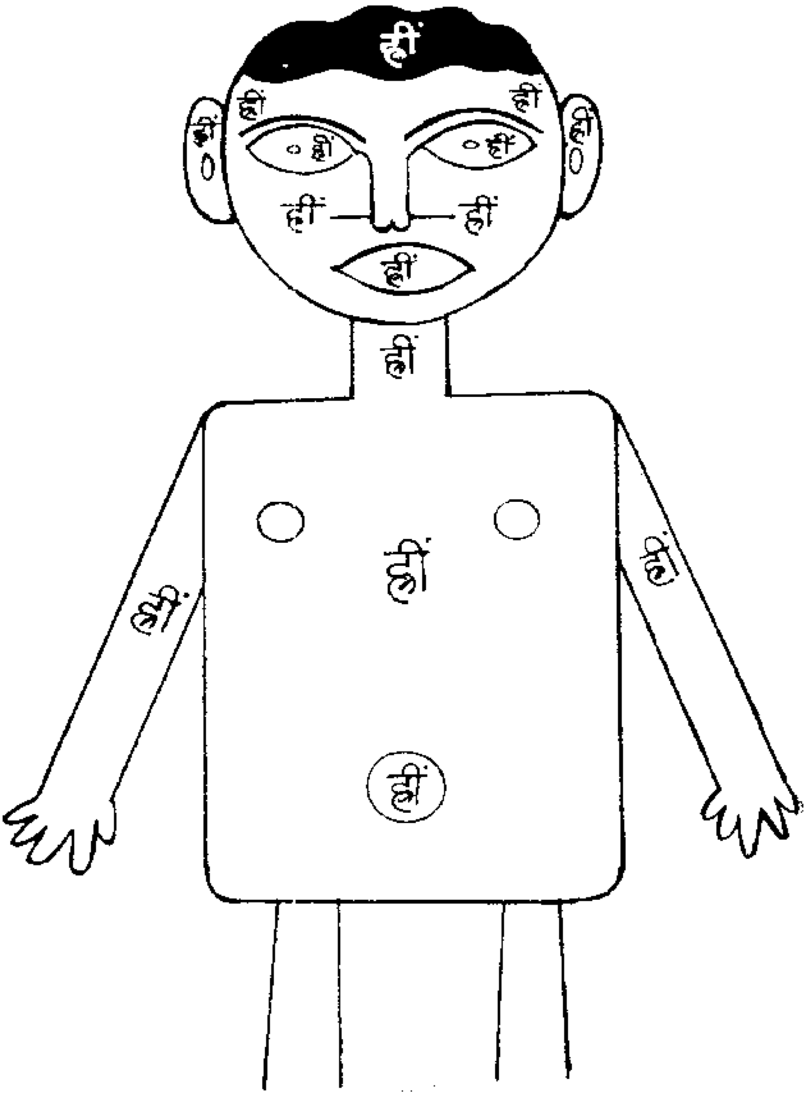

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

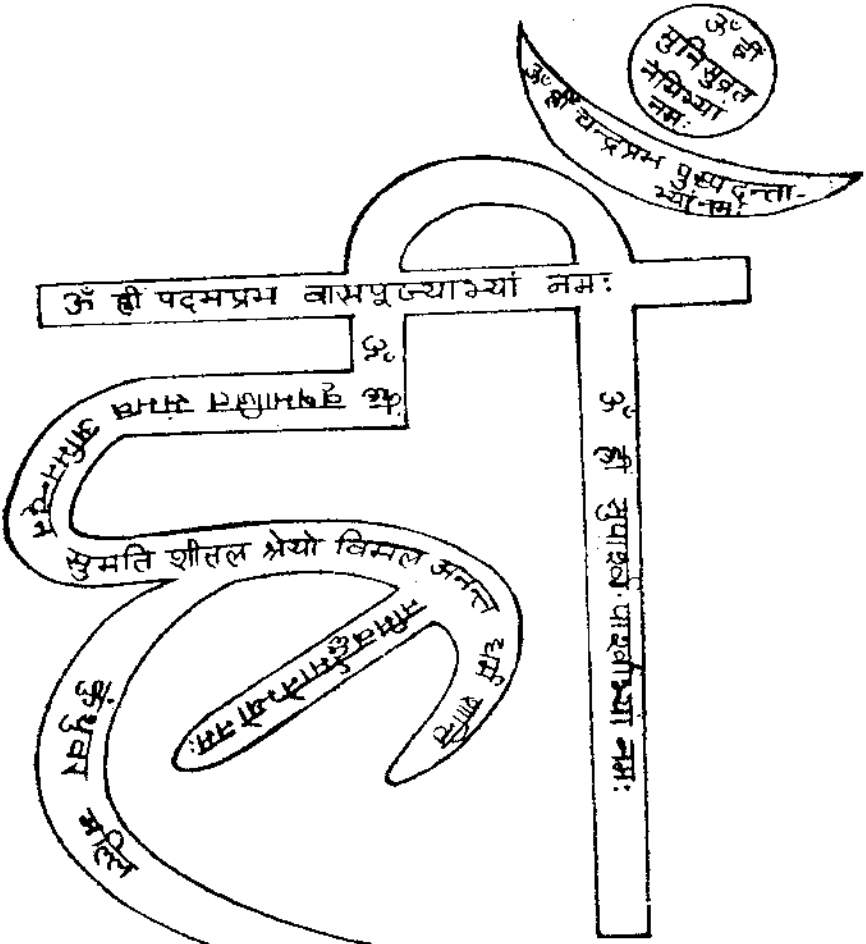

इस ह्रीं बीजाक्षर में समस्त वृषभादि चौबीस जिनोत्तम अर्थात् तीर्थंकर अपने वर्णों से सहित होकर विराजमान हैं। यथा ह्रीं बीजाक्षर की नादकला चन्द्रमा के आकार की है, सफेद वर्णवाली है इस नादकला में श्वेत वर्ण वाले चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त भगवान् का ध्यान करें। बिन्दु श्याम वर्ण की है इसमें श्याम वर्ण मुनिसुव्रत-नेमिनाथ भगवान् का ध्यान करें। कला अर्थात् मस्तक लाल रंग की है इसमें लालवर्ण पद्मप्रभ-वासुपूज्य तीर्थंकर का ध्यान करें। हकार सब तरफ से स्वर्ण के समान पीत वर्ण का है इसमें पीतवर्ण वृषभ-अजित-संभव-अभिनंदन-सुमति-शीतल-श्रेयांस-विमल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्त-धर्म शान्ति-कुन्थु-अर-मल्लि-नमि और महावीर भगवान् का ध्यान करें। मस्तक में सम्मिलित ईकार विशिष्ट नीलवर्ण का है। इसमें नीलवर्ण सुपार्श्वनाथ-पार्श्वनाथ भगवान् का ध्यान करें। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकर का वाचक इस ह्रीं का जो ध्यान करता है वह सर्वेष्ट की प्राप्ति कर सर्वरोगोपद्रव को शान्त कर अविनाशी सुख को प्राप्त करता है।

मन्त्रों व वर्णमातृका की ध्यान विधि

अनाहत मन्त्र "हँ" की ध्यानविधि

१—हे मुनीन्द्र ! सुवर्णमय कमल के मध्य में कर्णिका पर विराजमान, मल तथा कलंक से रहित शरद ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण के धारक आकाश में गमन करते हुए तथा दिशाओं में होते हुए ऐसे श्री जिनेन्द्र के सदृश हँ मन्त्रराज का स्मरण करे।

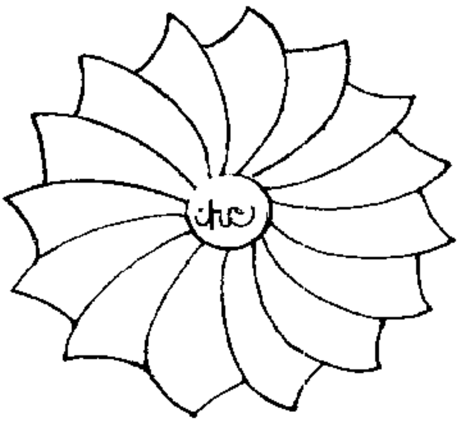

फूल पीतवर्ण
"हँ" श्वेतवर्ण

धैर्य का धारक योगी कुम्भक प्राणायाम से इस मन्त्रराज को भौंह की लताओं में स्फुरायमान होता हुआ मुखकमल में प्रवेश करता हुआ, तालुओं के छिद्र से गमन करता हुआ तथा अमृतमय जल से झरता हुआ देखे।

नेत्र की पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, केशों में स्थित करता हुआ तथा ज्योतिषियों के समूह में भ्रमता हुआ, चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ देखे।

दिशाओं मे सँचरता हुआ, आकाश में उछलता हुआ, कलंक के समूह को छेदता हुआ, संसार के भ्रम को दूर करता हुआ तथा परम स्थान (मोक्षस्थान) को प्राप्त करता हुआ ध्यावै।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान करने वाला इस मन्त्राधिप को अन्य किसी की शरण न लेकर, इस ही में साक्षात् तल्लीन मन करके, स्वप्न में भी इस मन्त्र से च्युत न हो ऐसा दृढ़ होकर ध्यावै।

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्र के ध्यान के विधान को जानकर मुनि समस्त अवस्थाओं में स्थिर स्वरूप सर्वथा नासिका के अग्रभाग में अथवा भौंहलता के मध्य में इसको निश्चल धारण करे।

तत्पश्चात् क्रम से (लखने योग्य वस्तुओं से) छुड़ाकर, अलक्ष्य में अपने मन को धारण करते हुए, ध्यान के अन्तरंग में अक्षय तथा इन्द्रियों के अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है।

(ज्ञानार्णव सर्ग २९)

अर्हं का ध्यान

अर्हं के आदि में अ और अन्त में ह और मध्य में रेफ है तथा बिन्दु से सहित है इस प्रकार "अ र् ह म्" चार शब्द से मिलकर अर्हं तत्त्व निष्पन्न होता है प्रथम अवस्था में द्वयाक्षर रूप "अर्हं" का ध्यान किया जाता है। पुनः अभ्यास होने पर पिण्डरूप ध्यान करे। इसमें भी अभ्यस्त होनेपर चन्द्रसमप्रभायुक्त केवल मात्र हकार वर्ण का ध्यान किया जाता है। संयुक्त वर्ण के ध्यान में ध्वनि है परन्तु वर्णमात्र का चिन्तन ध्वनि-रहित हो जाता है उस समय ध्यानी एक अलौकिक अनुभूति मात्र करता है इसी को "अनाहत नाद" कहा है। यह अनहद नाद उच्चारण योग्य नहीं रहता। आचार्यश्री कहते हैं कि यह रहस्यमूलक "तत्त्व" गुरुप्रसाद से ही प्राप्त होना सम्भव है। योगशास्त्रों में इसका क्रम बतलाते हुए लिखा है कि प्रथमावस्था में अ, ह, रेफ और बिन्दु का पृथक्-पृथक् चिन्तन करे। पुनः क्रमशः इनका संयोग करते हुए विचारे, पिण्डरूप अर्हं होनेपर इसे ध्यानकेन्द्र बनावे। अन्त में "ह" वर्ण मात्र रह जावे अर्थात् "अनाहत" नाद में लीन होने का अभ्यास करे।

(अमृताशीति/३६ श्लोक अनुवादिका—ग० आ० विजयामतीजी)

अ वर्ण—कनकवर्णमय चतुर्भुजालंकृत अवर्ण का नाभिमंडल में चिन्तन करे।

ध वर्ण—कनकवर्णमय चतुर्भुजालंकृत, सर्वाभरणभूषित "ध" वर्ण का चिन्तन हृदयकमल में इष्टसिद्धि के लिए करें।

ठ वर्ण—रक्ताम्बराभरणभूषित "ठ" वर्ण का भोंह के मध्य में चिन्तन करें। यह सर्व शान्तिविधायक बीज मन्त्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ह्र वर्ण—प्रसन्न हृदय होकर सर्वाभरणभूषित श्वेतवर्ण वाले ह्र बीज मन्त्र का हृदय कमल में स्थापन कर चिन्तन करें।

क्ष बीज—क्ष बीज मन्त्र का जो सोलह भुजाओं में अलंकृत हेम वर्णमय ध्यान करें।

सकल स्वरों का ध्यान

शुभ्र वर्ण से सुशोभित, सर्वाभरणभूषित शाकिनी-डाकिनी, भूत-पिशाच-व्यन्तर-राक्षस-ग्रहयूथ, छेदन-भेदन-ताडनकर्म में समर्थ १६ स्वरों का सदैव ध्यान करें।

ॐकार का ध्यान

पाँच वर्णों से सुशोभित अनन्तचतुष्टय लक्ष्मी का प्रदाता ॐ सदा ध्येय है।

ॐकारं बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः॥

समस्त विघ्नों की शान्ति के लिये "क्षी, ल, व और र" बीजाक्षरों का ध्यान करें। इनमें क्षी, व, ल हेमवर्णमय है। ल चतुर्भुजालंकृत है, व सोलह कलायुक्त है तथा र भी सोलह कलायुक्त है।

(मृत्युञ्जय विधान)

आत्मा व अष्टाक्षरी मन्त्र की ध्यान विधि

आठ दिशा सम्बन्धी आठ पत्रों से पूर्ण कमल में भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान ग्रीष्म-ऋतु के सूर्य के समान दैदीप्यमान आत्मा का स्मरण करे।

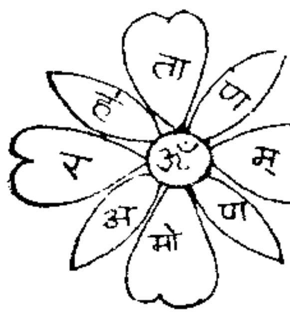

प्रणव है आदि में जिसके ऐसे मन्त्र को पूर्वादिक दिशाओं में प्रदक्षिणारूप एक-एक पत्र पर अनुक्रम से एक-एक अक्षर का चिन्तन करे। वे अक्षर ॐ णमो अरहंताणं ये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कमल जाप
पाँच परमेष्ठी चार आराधना

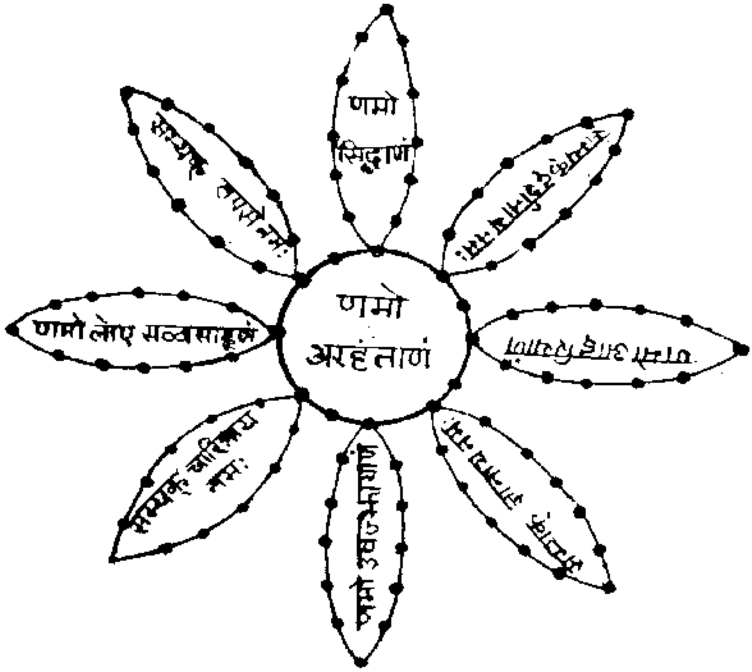

इस कमल में ८ पंखुड़ियाँ हैं। बीच में कर्णिका है। एक पांखुड़ी और कर्णिका में १२-१२ पीतबिन्दु हैं। तथा पंचपरमेष्ठी व चार आराधना वाचक नौ मंत्र हैं। नौ मंत्रों को बारह-बारह बार उच्चारण करने से एक जाप्य (माला) पूरा हो जाता है।

१२ × ९ = १८० = णमो अरहंताणं—१२
णमो सिद्धाणं—१२
सम्यक् दर्शनाय नमः—१२
णमो आइरियाणं—१२
सम्यक् ज्ञानाय नमः—१२
णमो उवज्झायाणं—१२
सम्यक्चारित्राय नमः—१२
णमो लोए सव्वसाहूणं—१२
सम्यक् तपसे नमः—१२
= १०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

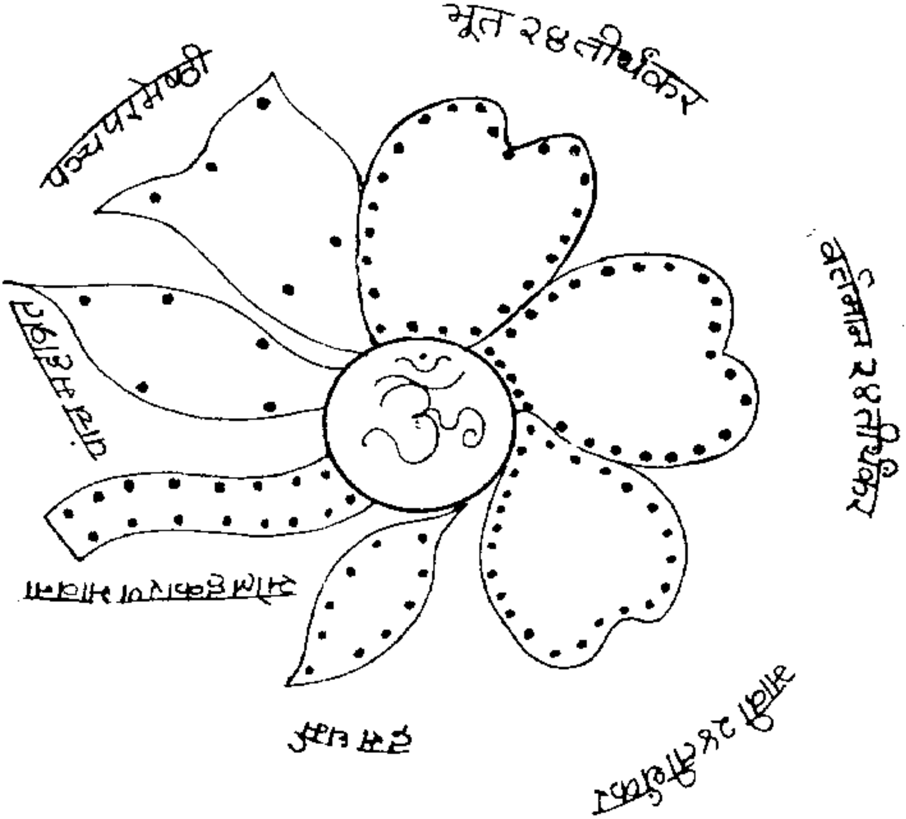

भूतकालीन २४ तीर्थंकरों के—२४
वर्तमान कालीन २४ ती०—२४
भविष्यत्काल २४ ती०—२४
धर्म के १०—१०
भावना १६—१६
पाँच महाव्रत के—५
पाँच परमेष्ठी के—५
=१०८

इस प्रकार जाप्य से पदस्थ ध्यान की सिद्धि होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

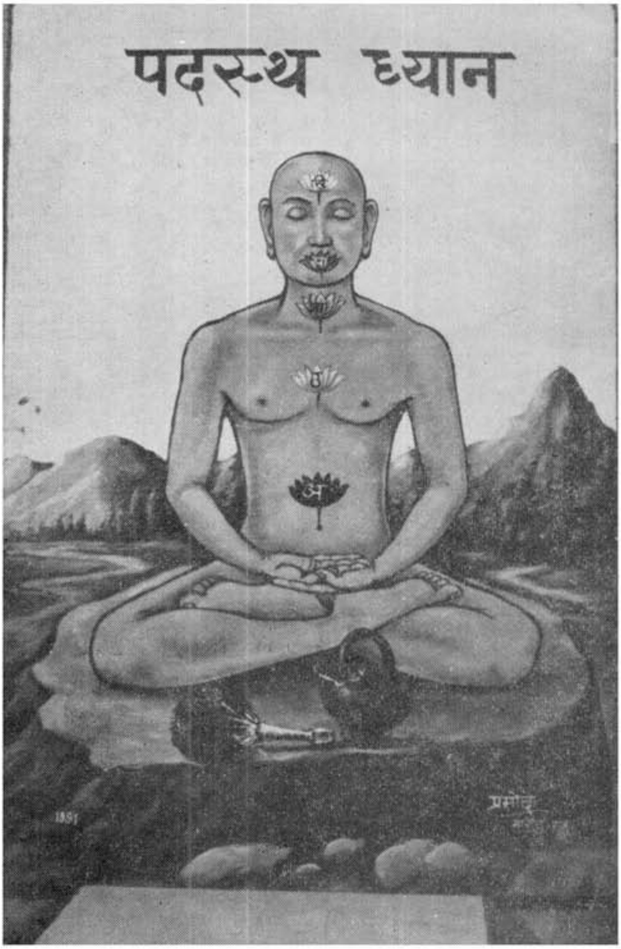

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रणव, शून्य व अनाहत इन तीन अक्षरों की ध्यान विधि

प्रणव और शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षर हैं, इनको बुद्धिमानों ने तीन लोक के तिलक के समान कहा है। इन तीनों को नासिका के अग्र भाग में अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा-महिमा आदिक आठ ऋद्धियों को प्राप्त होकर, तत्पश्चात् अतिनिर्मल केवलज्ञान को प्राप्त होता है।

नामध्येय का स्वरूप

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येयं तदर्हताम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—आदि, मध्य एवं अन्त में जो वाङ्मय को व्याप्त करके स्थित है ऐसे ज्योतिःस्वरूप अर्हन्तों के नाम का हृदय में ध्यान करना नाम ध्येय कहलाता है ॥ १०१ ॥

असिआउसा का ध्यान

हृत्पंकजे चतुःपत्रे ज्योतिष्मंति प्रदक्षिणम्।
असिआउसाक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ॥ १०२ ॥

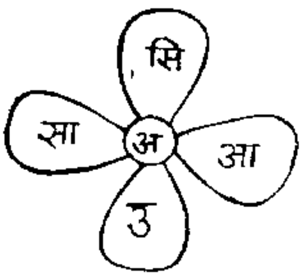

अर्थ—ज्योतिःस्वरूप और चार पत्रों वाले हृदय रूपी कमल में परमेष्ठियों के अ सि आ उ सा अक्षरों का प्रदक्षिणा रूप से ध्यान करना चाहिये ॥ १०२ ॥

अ इ उ ए ओ मंत्रों का ध्यान

ध्यायेदइउएओ च तद्वन्मंत्रानुदर्चिषः।
मत्यादिज्ञाननामानि मत्यादिज्ञानसिद्धये ॥ १०३ ॥

अर्थ—इसी प्रकार मति आदि ज्ञानों को सिद्ध करने के लिए ऊपर की ओर जाज्वल्यमान पाँचों ज्ञानों के नाम (वाचक) अ इ उ ए ओ इन मंत्रों का ध्यान करना चाहिये ॥ १०३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

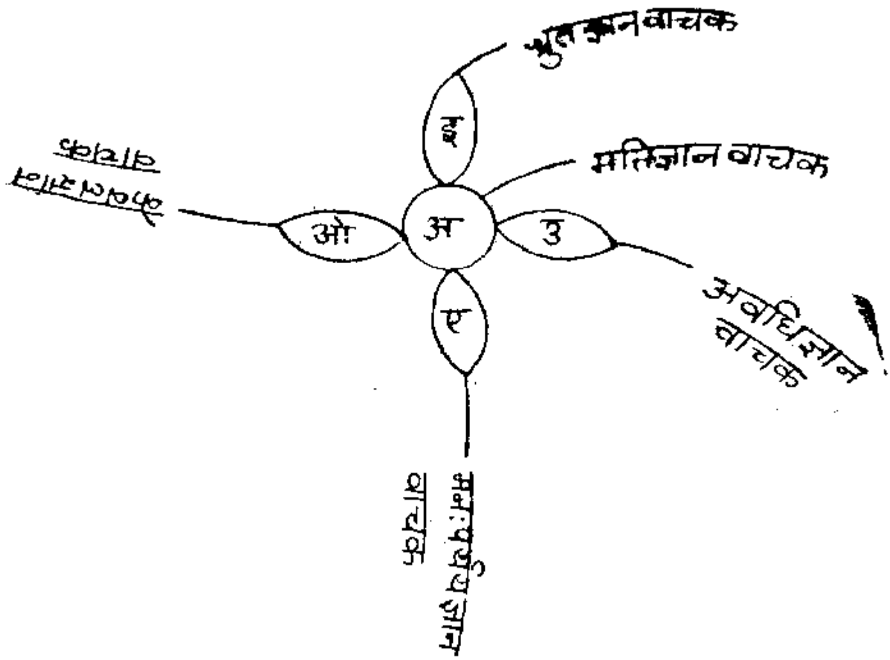

सप्ताक्षरों का ध्यान

सप्ताक्षरं महामंत्रं मुखरध्रेषु सप्तसु ।
गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकम् ॥ १०४ ॥

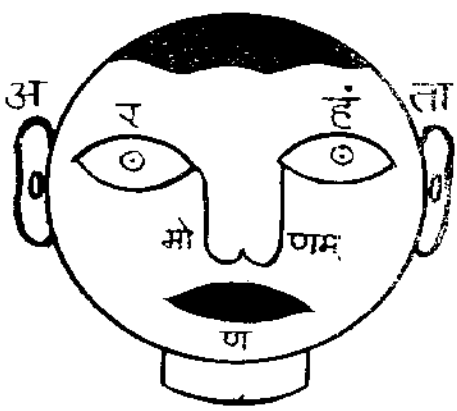

अर्थ—गुरु के उपदेश से श्रवण आदि के दोष को दूर करने की इच्छा करता हुआ व्यक्ति मुख के सातों छेदों में सात अक्षरों वाले महामंत्र (नमो अरहंताणं) का ध्यान करे ॥ १०४ ॥

विशेष—सप्ताक्षरी मंत्र (णमो अरहंताणम्) के अक्षरों को जिह्वा, नाक, कान, आँख आदि में क्रम से स्थापित करें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्राचार्य ने पंचाक्षरी मंत्र को शरीर में स्थापना करने के लिये बताया है। जो क्रम से 'अ' को नाभि-कमल में, सि को मस्तक कमल में, 'आ' कण्ठस्थ कमल में, 'उ' को हृदय कमल में सा को मुख में स्थापित करें।

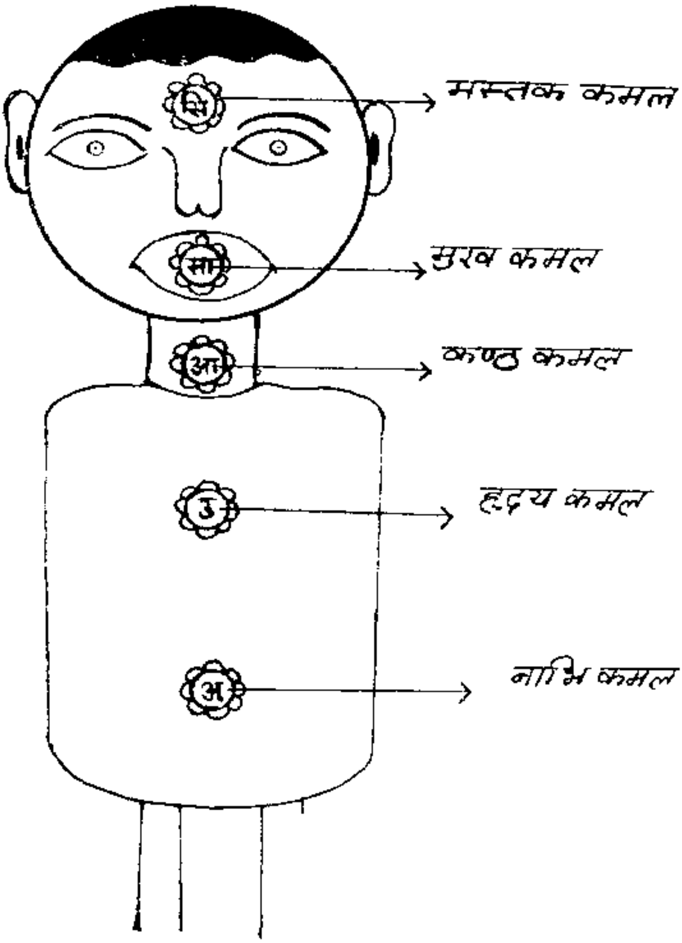

अरहंत नाम का ध्यान

हृदयेऽष्टदलं पद्मं वर्गैः पूरितमष्टभिः।
दलेषु कर्णिकायां च नाम्नाधिष्ठितमर्हताम् ॥ १०५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणभृद्वलयोपेतं त्रिपरीत च मायया ।
क्षोणीमंडलमध्यस्थं ध्यायेदभ्यर्च्चं(र्चं)येच्च तत् ॥ १०६ ॥

अर्थ—हृदय में आठ दल का कमल बनावें, उसकी आठों ही पाखुड़ियों को आठ वर्गों से पूरित करें और मध्यभाग (कर्णिका) में अरहंत का नाम स्थापित करे। तदनन्तर गणधर वलय से सहित, माया से तीन बार घिरे हुए एवं पृथ्वी मंडल के मध्य में स्थित उस अष्टदल वाले कमल का ध्यान करे तथा पूजा करें ॥ १०५-१०६ ॥

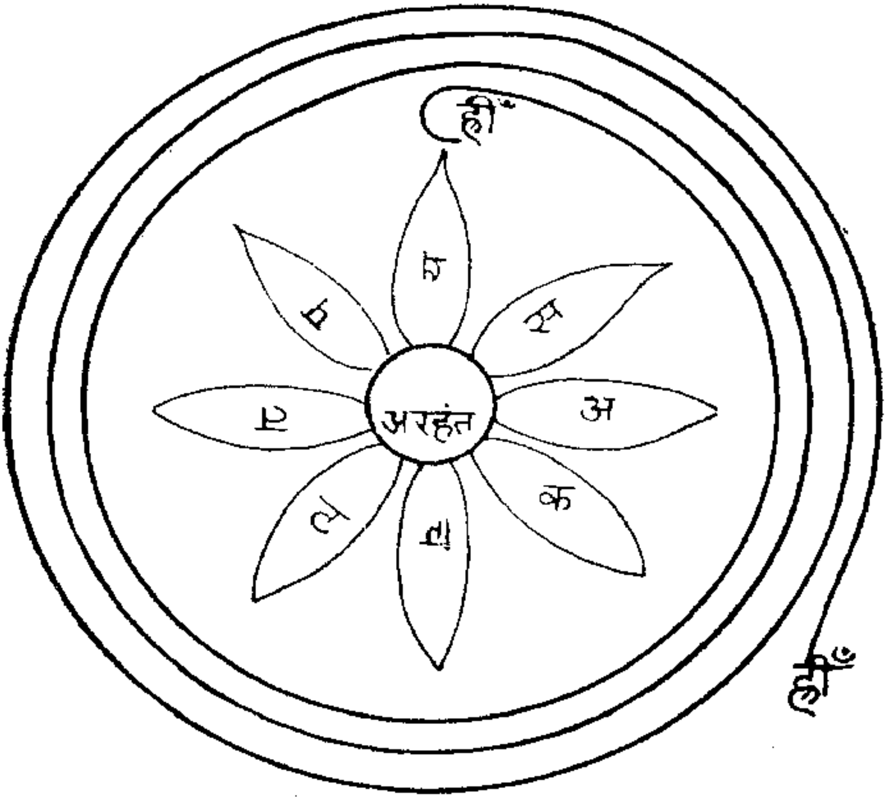

अ से ह पर्यन्त अक्षरों का ध्यान

अकारादिहकारान्ताः मन्त्राः परमशक्तयः ।
स्वमण्डलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ॥ १०७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—दोनों लोकों में फलदायक, अपने मण्डल में प्राप्त हुए अकार से हकार तक के अक्षरों वाले परम शक्ति-सम्पन्न मन्त्रों का ध्यान करे ॥ १०७ ॥

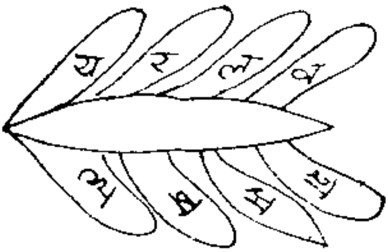

मुख कमल

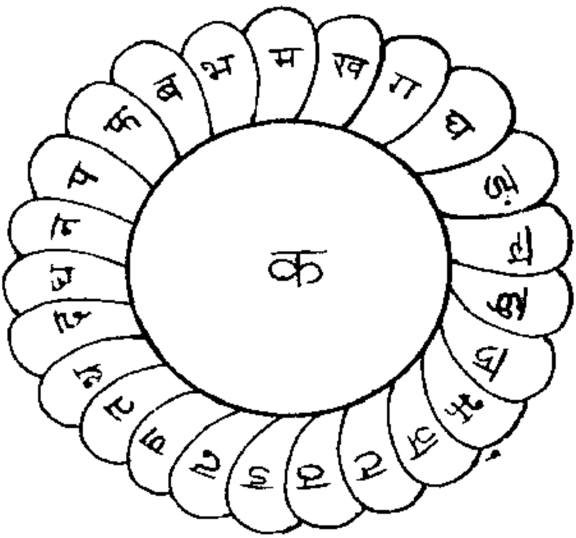

हृदय कमल

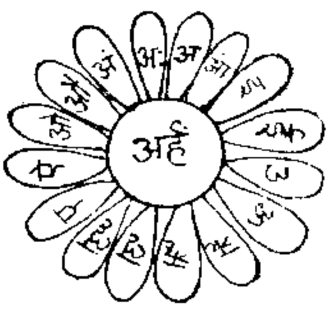

नाभिकमल में सोलह स्वरों का ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार नाभिमंडल में अ से लेकर अः १६ स्वरों का ध्यान करना चाहिये तथा हृदय कमल में क से लेकर म पर्यन्त व्यञ्जनों का ध्यान करना चाहिये तथा मुख कमल में य से ह पर्यन्त आठ व्यञ्जनों का ध्यान करना चाहिये। इनका ध्यान करने वाला दोनों लोकों में सुख को प्राप्त कर अनन्तज्ञान/केवलज्ञान का स्वामी बनकर मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है।

इत्यादीन्मन्त्रिणो मन्त्रानर्हन्मन्त्रपुरःसरान्।
ध्यायन्ति यदिह स्पष्टं नामध्येयमवेहि तत्॥ १०८॥

अर्थ—इत्यादि प्रकार से मन्त्रों का ध्यान करने वाले पुरुष 'अरहन्त' के नाम पूर्वक मन्त्रों का ध्यान करते हैं तो इसे स्पष्ट रूप से नामध्येय (नामध्यान) समझना चाहिये॥ १०८॥

निज स्वरूप का ध्यान

(वर्णों के माध्यम से)

अर्हद् स्वरूपोऽहं
आकुलता रहितोऽहं
इन्द्रियातीतोऽहं
ईश्वरस्वरूपोऽहं
उपशम भाव रहितोऽहं
ऊर्ध्व गमन स्वभाव स्वरूपोऽहं
ऋषिवर स्वरूपोऽहं
एकत्वभाव स्वरूपोऽहं
ओंकार स्वरूपोऽहं
औपशमिक भाव रहितोऽहं
अर्न्तमुख स्वरूपोऽहं
आनन्द स्वरूपोऽहं
कषायातीतोऽहं
कार्योत्सर्ग सहितोऽहं
कृष्ण लेश्या रहितोऽहं
किंपाक फल भाव रहितोऽहं
कीट्ट कालिमा रहितोऽहं
कुब्जक संस्थान रहितोऽहं
क्रोधातीतोऽहं
कंद रहितोऽहं
खल भाव रहितोऽहं
खिन्नता रहितोऽहं
खीझ रहितोऽहं
खुश पर्याय रहितोऽहं
गतिमार्गणा रहितोऽहं
गात्र रहितोऽहं
गिलान रहितोऽहं
गीर्णि (प्रशंसा) रहितोऽहं
गुणस्थान रहितोऽहं
गूँगा पर्याय रहितोऽहं
गेहिनी पर्याय रहितोऽहं
गोत्र कर्म रहितोऽहं
गौर वर्ण रहितोऽहं
गंधातीतोऽहं
घातिया कर्म रहितोऽहं
घमंड रहितोऽहं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घिराव रहितोऽहं, घिन रहितोऽहं
घै रहितोऽहं
घुमक्कड़ क्रिया
घू घू पर्याय रहितोऽहं
घोराणि पापानि विमुक्तोऽहं
चक्षुरिन्द्रियातीतोऽहं
चारित्र स्वरूपोऽहं (चारित्र यथा-ख्यात)
चित्चमत्कार ज्योति स्वरूपोऽहं
चील पर्याय रहितोऽहं
चुन्दी (दूती) पर्याय रहितोऽहं
चूर्ण क्रिया रहितोऽहं
चेतना स्वरूपोऽहं
चैतन्य ज्योति स्वरूपोऽहं
चोद्यम (आक्षेप) क्रिया रहितोऽहं
चौदह राजू उत्तुंगोऽहं,
चौदह जीव समास रहितोऽहं
चन्दन गुण युक्तोऽहं
छद्मस्थ पर्याय रहितोऽहं
छेदोपस्थापना संयम रहितोऽहं
छियालीस गुण स्वरूपोऽहं
छींक रहितोऽहं
जन्म रहितोऽहं
जाति नाम कर्म रहितोऽहं
जिन्दगी रहितोऽहं
जुगुप्सा रहितोऽहं
जैनोऽहं
झंझट रहितोऽहं
झूठ वचन रहितोऽहं
टंकोत्कीर्ण ज्योति स्वरूपोऽहं
दुष्ट क्रिया रहितोऽहं
ठान रहितोऽहं
डर रहितोऽहं
णमोकार मंत्रस्वरूपोऽहं
णाण पयासो रहितोऽहं
णिव्वाण स्वरूपोऽहं
तन रहितोऽहं
तम रहितोऽहं
तिगुप्ति गुप्तोऽहं
तेरह प्रकार चारित्र स्वरूपोऽहं
तैजस नाम कर्म रहितोऽहं
थावर पर्याय रहितोऽहं
थल पर्याय रहितोऽहं
दया स्वरूपोऽहं
दर्शनावरणीय कर्म रहितोऽहं
दुश्चारित्र रहितोऽहं
देवगति नाम कर्म रहितोऽहं
दोष रहितोऽहं
धर्मध्यान स्वरूपोऽहं
धारणा रहितोऽहं
धीरोऽहं
धैर्य युक्तोऽहं
ध्रौव्य स्वरूपोऽहं
नरक गति रहितोऽहं,
नमन स्वरूपोऽहं
नाम कर्म रहितोऽहं
निहार रहितोऽहं
निःशंकित भाव युक्तोऽहं
नीच गोत्र रहितोऽहं
नो कर्म रहितोऽहं
परमात्म स्वरूपोऽहं
परम ज्योति स्वरूपोऽहं
पाप रहितोऽहं
पीत वर्ण रहितोऽहं
पुराण पुरुषोऽहं
पुरुषार्थोऽहं पुरुषार्थ युक्तोऽहं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैशून्य क्रिया रहितोऽहं
पौद्गलिक क्रिया रहितोऽहं
फिक्र रहितोऽहं
फुप्फस रहितोऽहं
फंद रहितोऽहं
बंध रहितोऽहं
बादर पर्याय रहितोऽहं
बीभत्स परिणाम रहितोऽहं
बोलना क्रिया रहितोऽहं
भगवत्स्वरूपोऽहं
भाषा रहितोऽहं
भिक्षा रहितोऽहं
भुजा रहितोऽहं
भेद विज्ञान युक्तोऽहं
ममत्व रहितोऽहं
महाव्रत युक्तोऽहं
मान रहितोऽहं
मिथ्यात्व रहितोऽहं
मीमांसक धर्म रहितोऽहं
मेधा सहितोऽहं
मोह रहितोऽहं
यतिवर स्वरूपोऽहं
याचना रहितोऽहं
युवावस्था रहितोऽहं
योगातीतोऽहं
रत्नत्रय स्वरूपोऽहं
रागातीतोऽहं
रिपु रहितोऽहं
रुदन रहितोऽहं
रेचन क्रिया रहितोऽहं
रै रहितोऽहं
रोगातीतोऽहं
लब्धि स्वरूपोऽहं
लिंगातीतोऽहं
लेश्या रहितोऽहं
वंद्य वंदक भाव रहितोऽहं
वात्सल्य भावना युक्तोऽहं
विरागोऽहं
वीतरागोऽहं
वैराग्य स्वरूपोऽहं
शम दम रहितोऽहं
शान्ति स्वरूपोऽहं
शुभ नाम कर्म रहितोऽहं
शैशवास्था रहितोऽहं
शोक रहितोऽहं
शंका अतिचार रहितोऽहं
सत्य स्वरूपोऽहं
सातावेदनीय कर्म रहितोऽहं
सिद्ध स्वरूपोऽहं
सुभग कर्म रहितोऽहं
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान रहितोऽहं
सैंधव पर्याय रहितोऽहं
षट्काय रहितोऽहं
षुः क्रिया (प्रसूति क्रिया) रहितोऽहं
षोडशकारण भावना युक्तोऽहं
हलन चलन रहितोऽहं
हास्यातीतोऽहं
हिंसा रहितोऽहं
हूहू पर्याय रहितोऽहं
हेतु भाव रहितोऽहं
हेयोपादेय ज्ञान सहितोऽहं
हैरानी रहितोऽहं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

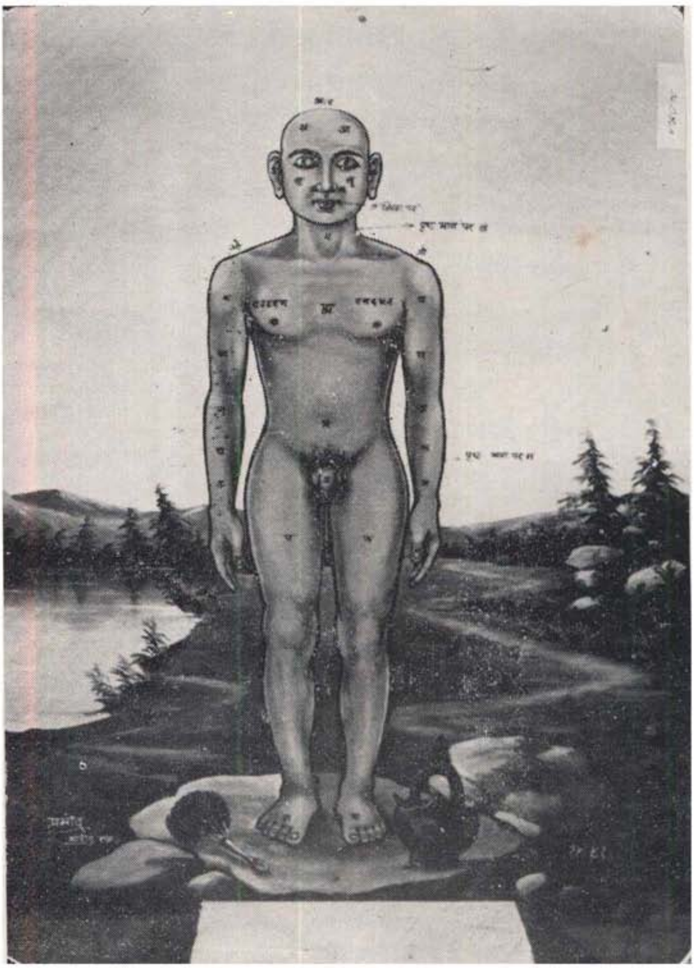

स्थापना ध्येय का स्वरूप

जिनेन्द्रप्रतिबिम्बानि कृत्रिमाण्यकृतानि च ।
यथोक्तान्यागमे तानि तथा ध्यायेदशङ्कितम् ।। १०९ ।।

अर्थ—जैसे आगम में कहे गये हैं, उन कृत्रिम (बनाई गई) एवं अकृत्रिम (नहीं बनाई गई) जिनेन्द्र भगवान् के प्रतिबिम्बों का सन्देह-रहित होकर ध्यान करना स्थापना ध्येय का स्वरूप है।

विशेष—स्थापना दो प्रकार की होती हैं—सद्भावस्थापना दूसरी असद्भावस्थापना (श्लो० वा०) अथवा सायार इयर ठवणा अर्थात् साकार व अनाकार के भेद से स्थापना के दो प्रकार (न० च० वृ० २७३)।

वास्तविक पर्याय से परिणत इन्द्र आदि के समान बनी हुई काष्ठ आदि की प्रतिमा में आरोपे हुए उन इन्द्रादि की स्थापना करना "सद्-भावस्थापना" है क्योंकि किसी अपेक्षा से इन्द्रादि का सादृश्य यहाँ विद्य-मान है। तभी तो मुख्य पदार्थ को जीव की तिस प्रतिमा के अनुसार सादृश्य से 'यह वही है' ऐसी बुद्धि हो जाती है। यथा पार्श्वनाथ की वीत-राग प्रतिमा को देखकर यह वही पार्श्वनाथ हैं ऐसी बुद्धि हो जाती है।

मुख्य आकारों से शून्य केवल वस्तु में "यह वही है" ऐसी स्थापना कर लेना असद्भाव स्थापना है; क्योंकि मुख्य पदार्थों को देखने वाले जीव की दूसरों के उपदेश से ही "यह वही है" ऐसा समीचीन ज्ञान होता है, परोपदेश के बिना नहीं। यथा—सुपारी, चावल आदि में भगवान् की स्थापना करना अथवा सतरंज की गोटों में हाथी-घोड़ा आदि की स्थापना करना।

जिनेन्द्रदेव की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएँ सद्भाव स्थापना हैं। ये ध्याता के ध्यान करने योग्य हैं। इसीलिये इन्हें स्थापना ध्येय कहते हैं। यथा—सर्व अकृत्रिम जिनबिम्बों में अरहन्त की स्थापना है। उन्हें साक्षात् अर्हन्तमान ध्याता उनके महागुणों का चिन्तन कर अपने मन को एकाग्रता की ओर ले जाता है।

"कोटि शशि भानु दुति तेज छिप जात है,
महावैराग्य परिणाम ठहरात है,
वयन नहीं कहै लखि होत सम्यक् धरं"

इसी प्रकार सर्व कृत्रिम जिनबिम्ब भी स्थापना ध्येय है। प्रतिदिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन कृत्रिमाकृत्रिम जिनबिम्बों को नमस्कार व इनका ध्यानादि करने से कोटिभवों की कर्मशृंखला कटती हैं।

द्रव्य नामक ध्येय का स्वरूप

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्।
तथैव सर्वदा सर्वमिति तत्त्वं विचिन्तयेत् ॥ ११० ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक द्रव्य एक समय में उत्पन्न होने वाला, स्थिर रहने वाला अथवा नष्ट होने वाला होता है, सब द्रव्य सदा उसी रूप में होते हैं—इस प्रकार तत्त्व का चिन्तन करना चाहिये ॥ ११० ॥

विशेष—दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ १० ॥

—पंचास्तिकाय

सर्वज्ञ देव ने द्रव्य को सत्ता लक्षण वाला कहा है। अर्थात् जो सत् है वह द्रव्य है, अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है वह द्रव्य है, अथवा जो गुण और पर्यायों का आधार है वह द्रव्य है।

सद्द्रव्यलक्षणम्। —तत्त्वार्थसूत्र ५/२९

द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥ —तत्त्वार्थसूत्र ५/३०

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कर सहित हो वह सत् है।

उत्पाद—द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं।

जैसे—मिट्टी की पिंड पर्याय मे घट का।

व्यय—पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। जैसे—घट पर्याय उत्पन्न होने पर पिण्ड पर्याय का।

ध्रौव्य—दोनों पर्यायों में मौजूद रहने को ध्रौव्य कहते हैं।

जैसे—पिण्ड तथा घट पर्याय में मिटटी का।

उत्पाद आदि का द्रव्य से अभेद है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्य में होता है। इसलिये यह निश्चय है कि उत्पाद आदि सब द्रव्य रूप ही है।

उत्पाद आदि में एक क्षण का भी भेद नहीं है—

द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नामक भावों से एकमेक है। अतः वे तीनों द्रव्य-स्वरूप ही हैं।

द्रव्य का उत्पाद अथवा विनाश नहीं होता, वह तो सत्स्वरूप है। किन्तु उसी की पर्याय उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को करती है। अर्थात्, द्रव्य-दृष्टि से द्रव्य में उत्पाद व्यय नहीं हैं, किन्तु पर्याय की दृष्टि से हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव ध्येय का स्वरूप

चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः ।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥ १११ ॥

अर्थ—जो चेतन अथवा अचेतन पदार्थ जिस प्रकार से व्यवस्थित है, उसका जो उसी तरह का भाव है वह यथार्थ तत्त्व कहलाता है ॥ १११ ॥

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ ११२ ॥
यद्विवृतं यथापूर्वं यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति ।
विवर्तते यदत्राद्य तदेवेदमिदं च तत् ॥ ११३ ॥
सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः ।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ॥ ११४ ॥
एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकम् ।
प्रतिक्षणमनाद्यनन्तं सर्वं ध्येयं तथा स्थितम् ॥ ११५ ॥
अर्थव्यंजनपर्यायाः मूर्तामूर्ता गुणाश्च ये ।
यत्र द्रव्ये यथावस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ—द्रव्य जो कि अनादि है, उसमें प्रशिक्षण स्व पर्यायें जल में कल्लोलों की तरह उपजती तथा विनशती रहती हैं। जो पूर्व क्रमानुसार विवर्तित हुआ है, होगा, और हो रहा है वही सब यह (द्रव्य) है और यही सब उन स्वरूप है। द्रव्य में गुण सहवर्ती और पर्यायें क्रमवर्ती हैं। द्रव्य इन गुणपर्यायात्मक है और गुण पर्याय द्रव्यात्मक है। इस प्रकार यह द्रव्य नाम की वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्ययरूप है तथा अनादि निधन है वह सब यथावस्थित रूप में ध्येय है और जो अर्थपर्याय, व्यंजन-पर्याय, तथा मूर्त, अमूर्त गुण जिस द्रव्य में जिस रूप से पाये जाते हैं उनको उसमें उसी तरह स्मरण करें ॥ ११२-११६ ॥

विशेष—अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्षलाञ्छिताः ।
तत्स्वरूपा विरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः ॥ १८ ॥
—ज्ञानार्णव

अर्थ—जो जीवादिक षट्द्रव्य चेतन अचेतन लक्षण से लक्षित हैं, अविरोधरूप से उन यथार्थ स्वरूप ही बुद्धिमान जनों द्वारा धर्मध्यान में ध्येय होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सात तत्त्व व नौ पदार्थ ध्येय हैं—

जिणउवइट्ठणवपयत्था वा ज्झेयं होंति। —जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय हैं। —ध० १३/५. ४. २६/२

> अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जराक्षयः।
> कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा ॥१०८॥ म. पु.

अर्थ—मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा कर्मों का क्षय होने रूप मोक्ष। इस प्रकार ये सात तत्त्व या पुण्य पाप मिला देने से नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य हैं।

षड्विध द्रव्यों में जीव द्रव्य उत्तम ध्यान करने योग्य है

> **पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथाम्बरम्।**
> **षड्विधं द्रव्यमाम्नातं तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥ ११७ ॥**

अर्थ—जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश ये छः प्रकार के द्रव्य कहे गये हैं। इनमें जीव सर्वाधिक ध्यान करने योग्य है ॥ ११७ ॥

विशेष—वास्तव में द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—जीव और अजीव। जिसमें उपयोग एवं चेतना हो, उसे जीव कहते हैं। पूर्ण एवं निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन शुद्धोपयोग तथा मतिज्ञानादि रूप विकल अशुद्धोपयोग है। अव्यक्त सुख-दुख का अनुभव कर्मफलचेतना, इच्छा-पूर्वक इष्टानिष्ट विकल्प से होने वाले रागद्वेष परिणाम कर्म चेतना और केवलज्ञान शुद्धचेतना या ज्ञानचेतना है। जीव में उपयोग एवं चेतना है तथा अजीव में ये दोनों नहीं हैं।

जीव की उत्तम ध्येयता का कारण

> **सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं, ध्येयतां प्रतिपद्यते।**
> **ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥ ११८ ॥**

अर्थ—चूंकि ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय पदार्थ ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है, इसलिये ज्ञानस्वरूप यह आत्मा सर्वाधिक या श्रेष्ठ ध्यान करने योग्य कहा गया है ॥ ११८ ॥

रंगों के साथ मनुष्य के मन का, मनुष्य के शरीर का कितना गहरा सम्बन्ध है—

हमें ज्ञान केन्द्र पर "णमो अरहंताणं" का ध्यान श्वेत वर्ण के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चाहिये। श्वेत वर्ण हमारी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करने वाला होता है।

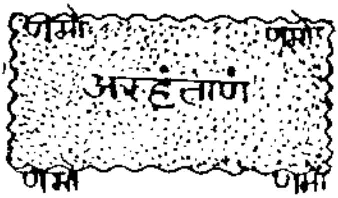

मस्तिष्क में "अर्हत्" का ध्यान धूसर रंग के साथ, श्वेत वर्ण के साथ करें, इससे ज्ञान की सोयी हुई शक्तियाँ जागृत होती हैं, चेतना का जागरण होता है। इसीलिये इस पद की आराधना के साथ ज्ञान-केन्द्र और सफेद वर्ण की समायोजना की गई है। स्वास्थ्य के लिये भी यदि कोई ध्यान करना चाहे तो उसे "**श्वेत वर्ण**" का ध्यान करना चाहिये। श्वेत वर्ण स्वास्थ्य का प्रतीक है।

"णमो सिद्धाणं" का ध्यान दर्शन केन्द्र में "**रक्त वर्ण**" के साथ किया जाता है। "बालसूर्य सम लालवर्ण"। आत्म साक्षात्कार अन्तर्दृष्टि का विकास, अतीन्द्रिय चेतना का विकास इस दर्शन केन्द्र से होता है—

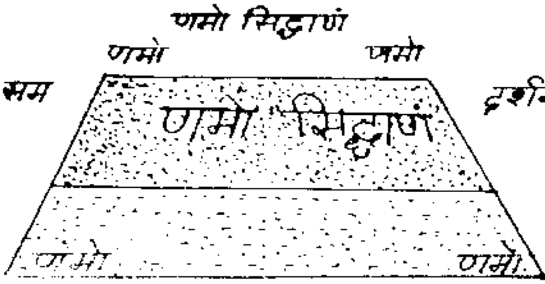

णमो सिद्धाणं मंत्र, लालवर्ण, दर्शन केन्द्र—इन तीनों का समायोजन हमारी आन्तरिक दृष्टि को जागृत करने का अनुपम साधन है, यह एक मार्ग है। किसको कब सिद्धि होती है यह उसी साधना पर निर्भर करता है।

णमो आइरियाणं—मंत्र पद है। इसका रंग "पीला है"। यह रंग हमारे मन को सक्रिय बनाता है। इसका स्थान है **विशुद्धि केन्द्र**। यह स्थान चन्द्रमा का है। हमारे शरीर में पूरा सौरमण्डल है, सूरज है, चाँद है, बुध है, राहु, केतु, गुरु, शुक्र, शनि सब ग्रह हैं। हस्तरेखा विशेषज्ञ हाथ की रेखाओं के आधार पर नौ ग्रहों का ज्ञान कर लेता है। ललाट विशेषज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ललाट पर खींचने वाली रेखाओं के आधार पर और योग के आचार्य चैतन्य केन्द्रों के आधार पर नौ ग्रहों का ज्ञान कर लेते हैं। नौ ग्रहों का शरीर में स्थान—तैजस केन्द्र सूर्य का स्थान है, विशुद्धि केन्द्र चन्द्रमा का स्थान है। ज्योतिषी चन्द्रमा के माध्यम से मन की स्थिति को पढ़ता है। चन्द्रमा और मन का सम्बन्ध है। जैसी स्थिति चन्द्रमा की होती है वैसी ही स्थिति मन की होती है। अतः मन का स्थान चन्द्रमा का स्थान है।

णमो आइरियाणं—का ध्यान विशुद्धि केन्द्र पर पीले रंग से करें। यह चैतन्य केन्द्र हमारी भावनाओं का नियामक है। तैजस केन्द्र वृत्तियों को उभारता है और विशुद्धि केन्द्र उन पर नियंत्रण करता है। रंग के साथ इस केन्द्र पर आचार्य का ध्यान करने पर हमारी वृत्तियाँ शान्त होती हैं। वे पवित्रता की दशा में सक्रिय बनती हैं। विशुद्धि केन्द्र पवित्रता संवृद्धि करने वाला होता है। यहाँ मन निर्मल व पवित्र होता है।

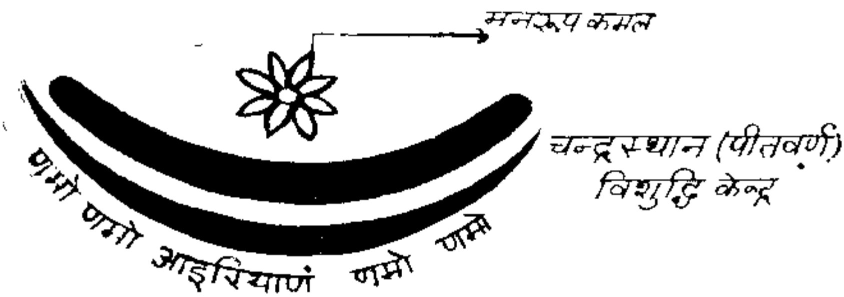

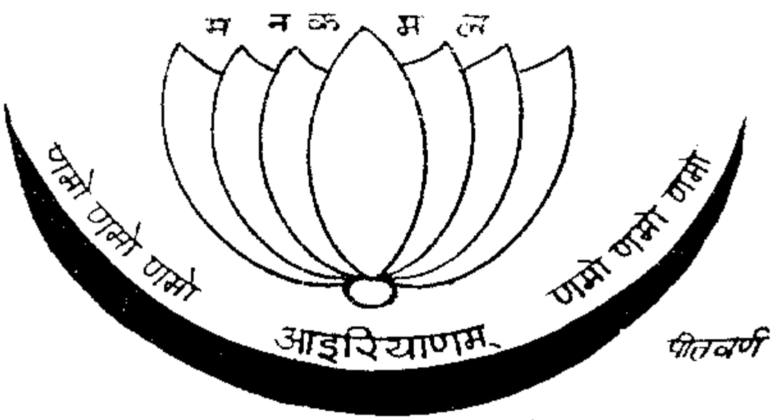

चन्द्र स्थान (विशुद्धि केन्द्र)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णमो उवज्झयाणं—यह मन्त्र पद है। इसका रंग नीला है। इसका स्थान आनन्द केन्द्र है। नीला रंग शान्ति देने वाला होता है। यह रंग समाधि एकाग्रता पैदा करता है। और कषायों को शान्त करता है। नीला रंग आत्म साक्षात्कार में सहायक होता है।

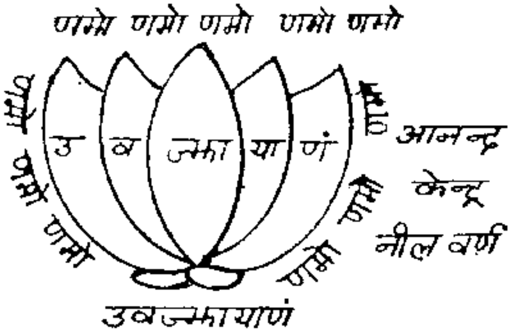

णमो लोए सव्वसाहूणं—यह मन्त्र पद है इसका रंग काला है। इसका स्थान है शक्ति केन्द्र। शक्ति केन्द्र का स्थान या पैरों के स्थान पर काले वर्ण के साथ इस मन्त्र की आराधना की जाती है। काला वर्ण अवशोषक है। यह बाहर के प्रभाव को भीतर नहीं जाने देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्रापि तत्त्वतः पञ्च ध्यातव्याः परमेष्ठिनः ।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धः स्वामीति निष्कलः ।। ११९ ।।

अर्थ—उनमें भी वास्तव में पाँच परमेष्ठी ही ध्यान करने योग्य हैं। इनमें चार तो सशरीरी हैं और सबके स्वामी सिद्ध शरीर रहित हैं ।।११९।।

पंच परमेष्ठी

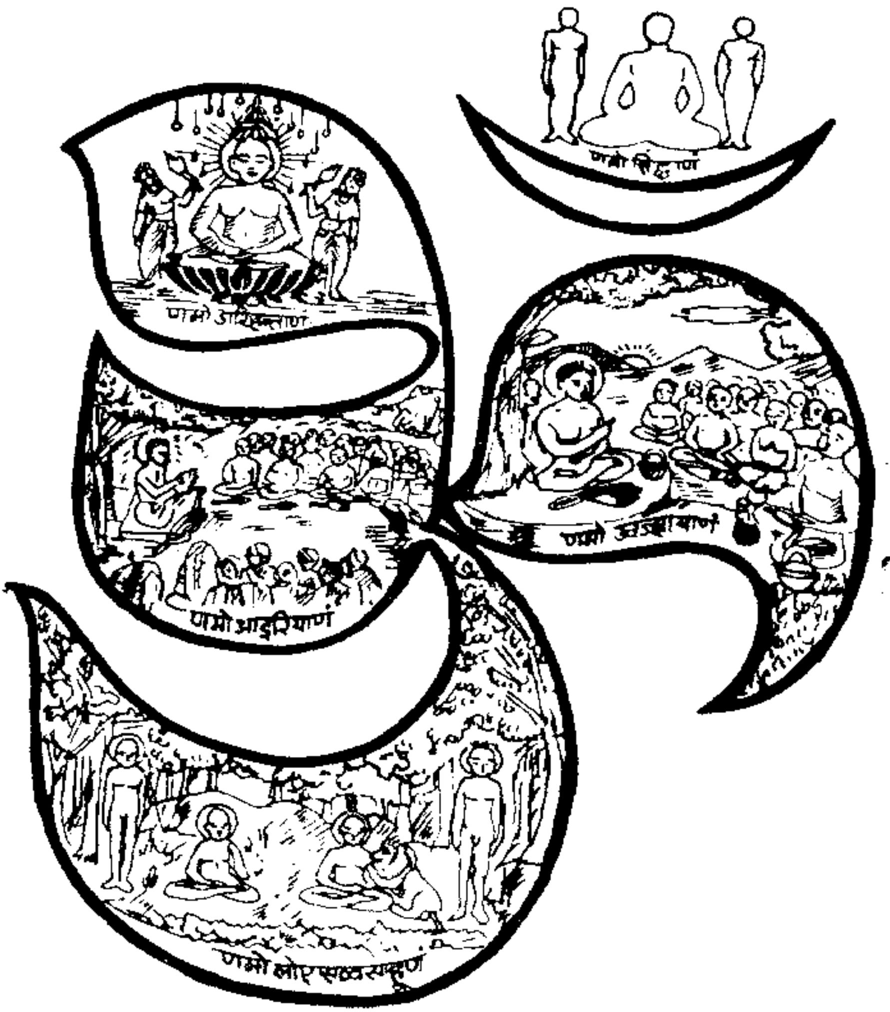

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्येय सिद्धों का स्वरूप

अनन्तदर्शनज्ञानसम्यक्त्वादिगुणात्मकम् ।
स्वोपात्तानन्तरत्यक्तशरीराकारधारिणः ॥ १२० ॥
साकारं च निराकारममूर्तमजरामरम् ।
जिनबिम्बमिव स्वच्छस्फटिकप्रतिबिम्बितम् ॥ १२१ ॥
लोकाग्रशिखरारूढमुदूढसुखसम्पदम् ।
सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निर्द्धूतकल्मषम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो अनंतदर्शन, ज्ञान, सम्यक्त्व आदि गुणों कर सहित हैं, सिद्ध अवस्था से ठीक पहिले छोड़े हुए शरीर जिसे कि पहिले ग्रहण कर रखा था—के आकार को धारण करने वाले हैं, इसलिये साकार हैं किन्तु अमूर्त (रूप, रस, गंध व स्पर्श रहित) होने से जो निराकार हैं, अजर हैं, अमर हैं जो स्वच्छ स्फटिक मणि में झलके हुए (प्रतिबिम्बित हुए) जिनबिम्ब के समान हैं, जो लोकाग्र के शिखर में विराजमान हैं, सुख-सम्पत्ति से समन्वित हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण कर्ममल को नष्ट कर दिया है ऐसे बाधाओं से रहित सिद्ध आत्मा को ध्यावें । ॥ १२०-१२२ ॥

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥ —नियमसार

आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट किया है, ऐसे आठ महागुणों से सहित परम लोकाग्र में स्थित और नित्य, ऐसे वे सिद्ध नित्य ध्यान करने योग्य हैं ।

सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के ध्वजदंड से १२ योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथ्वी स्थित है । उसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक तल का विस्तार पूर्व पश्चिम रूप से एक राजू प्रमाण है । वेत्रासन के सदृश वह पृथ्वी उत्तर दक्षिण भाग में कुछ कम सात राजू लम्बी है । इसकी मोटाई आठ योजन है । यह पृथ्वी घनोदधिवातलय, घनवात और तनुवात इन तीन वायुओं से युक्त है । इनमें से प्रत्येक वायु का बाहुल्य २०,००० योजन प्रमाण है । इसके बहुमध्य भाग में चाँदी एवं सुवर्ण के सदृश और नाना रत्नों से पूर्ण ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है । यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के सदृश (या आधे कटोरे के समान) आकार से सुन्दर और ४५,००,००० योजन विस्तार संयुक्त है। उसका मध्य बाहुल्य आठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योजन है और उसके आगे घटते-घटते अन्त एक अंगुल मात्र। अष्टम भूमि में स्थित सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है (त्रि० सा०)

वे सिद्ध भगवान् निश्चय से स्व में ही रहते हैं, व्यवहार से सिद्धालय में रहते हैं....देवाधिदेव व्यवहार से लोकाग्र में स्थित हैं और निश्चय से निज आत्मा में ज्यों के त्यों अत्यन्त अविचल रूप से रहते हैं।

सम्मत्त णाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलघुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥

क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व ये सिद्धों के आठ मूलगुण हैं।

अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व ये सिद्धों के आत्यन्तिक गुण होते हैं। (ध० १३)

सिद्धों के आठ मूलगुणों में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा चार गुण मिलाने पर बारह गुण माने गये हैं—

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव कालतो भावतस्तथा।
सिद्धाप्तगुणसंयुक्ता गुणाः द्वादशधा स्मृता॥

—ध० १३/५. ४. २६/श्लो० ३०/६०

सिद्ध जीव-परम शुद्ध जीवद्रव्य हैं। अनन्त शाश्वत गुणों के स्वामी हैं। स्वभाव अर्थपर्याय व स्वभाव व्यंजनपर्याय संयुत हैं। गति आदि १४ मार्गणा में ज्ञान मार्गणा में भी केवलज्ञान सहित हैं तथा दर्शन मार्गणा में केवलदर्शन सहित हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन रहित व शेष मार्गणाओं से भी रहित हैं। गुणस्थानातीत, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा रहित सिद्धों का ध्यान करो। सिद्धों को ध्येय बनाकर निज शुद्धात्मा चिन्तन करने वाला परम सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है।

ध्येय अरहन्तों का स्वरूप

तथाद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतम्।
प्रक्षीणघातिकर्माणं प्राप्तानन्तचतुष्टयम्॥ १२३॥
दूरमुत्सृज्यभूभागं नभस्तलमधिष्ठितम्।
परमौदारिकस्वाङ्गप्रभाभर्त्सितभास्करम्॥ १२४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितम् ।
मुनितिर्यङ्नरस्वर्गिसभाभिः सन्निषेवितम् ॥ १२५ ॥
जन्माभिषेकप्रमुखप्राप्तपूजातिशायिनम् ।
केवलज्ञाननिर्णीतविश्वतत्त्वोपदेशिनम् ॥ १२६ ॥
प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णसम्पूर्णोदग्रविग्रहम् ।
आकाशस्फटिकान्तस्थज्वलज्ज्वालानलोज्ज्वलम् ॥१२७॥
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ।
परमात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निःश्रेयसाप्तये ॥ १२८ ॥

अर्थ—तथा जो आप्तों (पंचपरमेष्ठियों) में प्रथम आप्त हैं, जो देवों के भी देव हैं, जिन्होंने चार घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है, और इसीलिये जिन्हें अनन्तचतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख) प्राप्त हुए हैं, जो पृथ्वी तल को दूर छोड़कर अर्थात् पृथ्वी-तल से चार अंगुल ऊपर नभस्तल में ठहरे रहते हैं, परम औदारिक स्वरूप अपने शरीर की प्रभा से सूर्य की प्रभा को भी नीचा कर दिया है जिन्होंने, जो चौतीस अतिशय तथा आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं, मुनि तिर्यंच, मनुष्य व स्वर्ग के देव-समूहों के द्वारा सेवित हैं, जन्माभिषेक आदि पूजातिशयों को प्राप्त करने वाले हैं, केवलज्ञान के द्वारा निर्णीत समस्त तत्त्वों के उपदेश देनेवाले हैं, जिन्होंका सम्पूर्ण उन्नत शरीर, स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होनेवाले लक्षणों (१००८ चिह्नविशेषों) से व्याप्त हो रहा है। जो आकाश में स्थित स्फटिक मणि में पाई जानेवाली जाज्वल्यमान ज्वालानल के समान उज्ज्वल हैं, तेजों में उत्तम तेज रूप हैं, ज्योतियों में उत्तम ज्योति रूप हैं ऐसे अरहंत परमात्मा का मोक्ष की प्राप्ति के लिये ध्यान करें॥ १२३-१२८ ॥

विशेष—अर्हत्, अरहंत, अरिहंत, अरुहन्त अलिहंत ये सब अरहंत के ही पर्यायवाची नाम हैं। अर्ह धातु से पूज्य योग में अर्हत् अरहंत-वीतराग-सर्वज्ञ हितोपदेशी होने से, चार घातिया कर्मों के क्षय से अरिहन्त तथा घातिकर्मरूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ देने से अरुहन्त कहे जाते हैं।

णामे ठवणे हि य सं दव्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि संपदिमे भावा भावंति अरहंतं ॥ २७ ॥
—बो० पा०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, स्वकीयगुण, स्वकीयपर्याय, च्यवन, आगति और सम्पदा इन नौ बातों का आश्रय करके अरहन्त भगवान् का ध्यान करें।

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताह पडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था॥

अरहन्त भगवान् के जो नाम हैं वे नाम जिन हैं, उनकी प्रतिमाएँ स्थापना जिन हैं, अर्हन्त भगवान् का जीवद्रव्य द्रव्य जिन है और समवसरण में स्थित भगवान् भावजिन हैं।

अनन्त चतुष्टय उनके स्वकीय गुण हैं, दिव्य परमौदारिक शरीर, महाअष्टप्रातिहार्य और समवसरण ये अरहंत भगवान् की स्वकीय पर्याय हैं। अरहन्त भगवान्—तीर्थंकर भगवान् स्वर्ग या नरकगति से च्युत होकर उत्पन्न होते हैं। भरत-ऐरावत और विदेह क्षेत्र में उनका आगमन होता है अर्थात् स्वर्ग या नरक से च्युत होकर इन क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं। उनके गर्भावतरण के छह मास से लगातार माता के अंगण में सुवर्ण और रत्नों की वर्षा होती है तथा गर्भावतरण हो चुकने पर नौ मास पर्यन्त माता के अंगण में सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर सुवर्ण और रत्नों की वर्षा करता है तथा उनका नगर सुवर्णमय हो जाता है यह अरहन्त भगवान् की सम्पत्ति है (अ० पा० टी० बो० प्रा०)

इसी प्रकार गुणस्थान मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण, जीवस्थान के द्वारा अरहन्त की योजना कर उनका ध्यान करना चाहिये—यथा

तेरहवें गुणस्थान में स्थित सयोगकेवली जिनेन्द्र अरहन्त कहलाते हैं। उनके ३४ अतिशय ८ प्रातिहार्य ४ अनन्त चतुष्टय मूल गुण होते हैं इनका आश्रय कर अरहन्त का ध्यान करें।

१४ मार्गणाओं में अरहंत के—गति में मनुष्यगति, इन्द्रिय में—पंचेन्द्रिय, काय में—त्रसकायिक, योग में ७ योग—सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचन योग, अनुभय वचनयोग, औदारिक, औदारिक-मिश्र और कार्मण काययोग हैं। वेद में—अवेद, कषाय में—अकषाय, ज्ञान में—केवलज्ञान, संयम में—यथाख्यातसंयम, दर्शन में—केवल-दर्शन, लेश्या में—एक शुक्ल लेश्या, भव्य-अभव्य में से अरहन्त भव्य ही हैं, अरहंत के क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है, संज्ञी-असंज्ञी में से वे संज्ञी ही हैं तथा आहारक अनाहारक के दोनों भेद अरहन्तों के सम्भव हैं क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य रूप से अरहंत आराहक हैं, समुद्घात की अपेक्षा अनाहारक हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में भी अनाहारक हो हैं।

प्राणों की अपेक्षा अरहंत के—पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु, श्वासोच्छ्वास दसों प्राण हैं अथवा भावप्राणों के (इन्द्रिय-मन) अभाव अपेक्षा ४ प्राण भी हैं—

वचनबल, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास।

अरहंत देव छहों पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) से समृद्ध हैं, अथवा भाव इन्द्रिय और मन के बिना चार पर्याप्तियाँ भी उनकी मानी जाती हैं।

जीवस्थान की अपेक्षा अरहंत पंचेन्द्रिय मनुष्य कहलाते हैं।

इस प्रकार बीस प्ररूपणा, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देशस्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि का आश्रय करके ध्येय अरहंत का ध्यान चिन्तन भव्यात्मा जीवों को अवश्य करना चाहिये।

अरहंतदेव के ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति

वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षुभिः।
स्वर्गापवर्गफलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥१२९॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले लोगों के द्वारा ध्यान किये गये ये वीतराग देव भी स्वर्ग एवं मुक्ति रूप फल को देने वाले हैं, क्योंकि उनकी वैसी शक्ति है ॥ १२९ ॥

विशेष—जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
जो जाणदि अप्पाणं मोहं खलु जादि तस्सलयं ॥

जो अरहंत को उनके द्रव्य, गुण, पर्याय से जानता है, उनका ध्यान करता है, व समवसरण में स्थित अरहंत की निस्पृहता का ध्यान करता है वह संसार शरीर भोगों से उदासीन हो अरहंत का दास बनता है। प्रभु के गुणों का ध्यान करता हुआ निज स्वरूप की ओर लक्ष्य देता है—

"यः परमात्मा स एवाहं"

सोऽहं की भूमिका में अपने को स्थापित करता है तथा योऽहं स परमस्ततः।

"अहमेव मयो पास्यो, नान्य कश्चिदिति स्थिति" द्वारा निजानन्दमय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देह-देवालय स्थित निज प्रभु की प्राप्ति कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है—

दासोऽहं रटता प्रभु, आया जब तुम पास,
दा दर्शन से हट गया, सोऽहं रहा प्रकाश।
सोऽहं सोऽहं रटत ही रह न सक्यो सकार,
अहं दीपमय हो गयो, अविनाशी अविकार ॥

ध्येय आचार्य उपाध्याय साधु का स्वरूप

सम्यग्ज्ञानादिसम्पन्नाः प्राप्तसप्तमहर्द्धयः ।
तथोक्तलक्षणाः ध्येयाः सूर्युपाध्यायसाधवः ॥१३०॥

अर्थ—उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान आदि से सम्पन्न, सातों महान् ऋद्धियों को प्राप्त तथा आगम में कथित लक्षणों वाले आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का भी ध्यान करना चाहिये ॥ १३० ॥

विशेष—प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है जो निर्दोष छः आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कंप हैं, शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, श्रेष्ठ हैं, देश कुल जाति से शुद्ध हैं, सौम्य हैं, अन्तरंग बहिरंग परिग्रह से रहित हैं आकाश के समान निर्लेप हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायश्चित देने में कुशल हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं। (ध० १)

ज्ञानकांडे क्रियाकांडे चातुर्वर्ण्य पुरः सरः।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥

ये आचार्यपरमेष्ठी सम्यक्ज्ञान व चारित्र से सम्पन्न होकर बढ़ती हुई परिणामों की विशुद्धता से बुद्धि, ऋद्धि, क्रिया ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि, तप ऋद्धि, बल ऋद्धि, औषधि ऋद्धि, रस ऋद्धि और क्षेत्र ऋद्धि आदि महाऋद्धियों को प्राप्त करते हैं। आचारत्वादि आठ स्थितिकल्प दस, तप बारह और छह आवश्यक इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस गुण माने गये हैं—१. आचारवान् २. आधारवान् ३. व्यवहारवान् ४. प्रकारक ५. आयापायदर्शी ६. उत्पीडक, ७. सुखकारी और ८. अपरिस्रावी ९. अचेलकत्व १०. उद्दिष्टशय्या ११. उद्दिष्ट आहार त्याग १२. राजपिण्ड

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग १३. कृतिकर्म प्रवृत्त १४. व्रतारोपण अर्हत्व १५. प्रतिक्रमण १६. ज्येष्ठत्व १७. मासैकवासिता १८. पर्या। १२ तप–अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, व्युत्सर्ग, ध्यान तथा ६ आवश्यक—समता-वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग = ८ + १० + १२ + ६ = ३६। अथवा—५ पंचाचार, १० धर्म, तप १२, गुप्ति ३ व आवश्यक छ:। इस प्रकार भी आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुण माने गये हैं। इन गुणों के आश्रय मे आचार्य परमेष्ठी ध्येय हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं, तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं उन मुनीश्वरोंको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। (ध० १।१, १, १।३२।५०)

उपाध्याय शंका समाधान करने वाले, सुवक्ता, वाग्ब्रह्म, सर्वज्ञ और सिद्धान्त, सर्वज्ञ अर्थात् सिद्धान्तशास्त्र और यावत् आगमों के पार-गामी वार्तिक तथा सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करनेवाले होने से कवि अर्थ में मधुरता का द्योतक तथा वक्तृत्व मार्ग के अग्रणी होते हैं।

११ अंग और १४ पूर्व के ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी के २५ मूलगुण होते हैं। २५ मूलगुणों के आश्रय से ध्येय उपाध्याय परमेष्ठी ध्यान के योग्य हैं।

साधु परमेष्ठी

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करनेवाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बेरोक टोक विचरने वाले, सूर्यसम तेजस्वी, सकल तत्त्व प्रकाशक, सागरसम गम्भीर, मेरु सम अकम्प व अडोल, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुञ्जयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहनेवाले, सर्प के समान, अनियत वसतिका में रहनेवाले, आकाश के समान निरा-लम्बी व निर्लेप और सदाकाल परमपद का अन्वेषण करनेवाले साधु होते हैं। (ध० १/११, १ गाथा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, यति, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त व यति ये साधु के पर्यायवाची हैं।

५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियरोध, ६ आवश्यक, ७ शेष गुण साधु परमेष्ठी के मुख्य गुण हैं। इन २८ गुणों का आश्रम करके ध्येय साधु परमेष्ठी ध्यान के योग्य हैं।

ध्येय पदार्थ चतुर्विध अथवा अन्यापेक्षा द्विविध

एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधम्।
अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितम् ॥१३१॥

अर्थ—इस प्रकार नाम आदि (नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव) के भेद से ध्यान करने योग्य पदार्थ चार प्रकार का कहा गया है अथवा द्रव्य एवं भाव के भेद से वह दो प्रकार का ही अवस्थित है ॥१३१॥

भाव ध्येय

द्रव्यध्येयं बहिर्वस्तु चेतनाचेतनात्मकम्।
भावध्येयं पुनर्ध्येयसन्निभध्यानपर्ययः ॥१३२॥

अर्थ—चेतन और अचेतन रूप बाह्य पदार्थ द्रव्य ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य द्रव्य हैं और ध्येय के समान ध्यान का पर्याय अर्थात् ध्येय और ध्यान की अभिन्नता भावध्येय या ध्यान करने योग्य भाव हैं ॥१३२॥

विशेष—गुण व पर्याय दोनों भाव रूप ध्येय है। ध्येय के सदृश ध्यान की पर्याय भाव ध्येय रूप से परिगृहीत है।

सभी द्रव्यों के यथावस्थित गुणपर्याय ध्येय हैं—

बारसअणुपेक्खाओ, उवसमसेडिखवगसेडिचडविहाणं तेवीसवग्गणाओ पंचपरियट्टाणि ट्ठिदिअणुभागपयडिपदेसादि सव्वं पि ज्झेयं होदि त्ति दट्ठव्वं।—बारह अनुप्रेक्षाएँ, उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरोहण-विधि, तेईस वर्गणाएँ, पाँच परिवर्तन, स्थिति, अनुभाग, प्रकृति और प्रदेश आदि ये सब ध्यान करने योग्य हैं। (धवला पु०)

रत्नत्रय व वैराग्य की भावनाएँ ध्येय हैं—जिसने पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है, वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है। और वे भावनाएँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से उत्पन्न होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान में भाने योग्य कुछ भावनाएँ—

उद्धद्धमज्झलोए केइ मज्झं ण अहयमेगागी।
इह भावणाए जोई पावंति हु सासयं ठाणं ॥८१॥
—मोक्षप्राभृत

अर्थ—ऊर्ध्व, मध्य और अधो इन तीनों लोकों में, मेरा कोई भी नहीं, मैं एकाकी आत्मा हूँ। ऐसी भावना करने से योगी शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है।

मैं अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य, दुखमय और पररूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष इससे विपरीत है, इस प्रकार सामायिक में ध्यान करना चाहिये। (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ॥
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥ इ० उ०

अर्थ—मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, ज्ञानी योगीन्द्रों के ज्ञान का विषय हूँ। इनके सिवाय जितने भी स्त्री-धन आदि संयोगी भाव हैं वे सब मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। (सामायिक प० अ० २६)

मैं निश्चय से सदा एक, शुद्ध, दर्शन ज्ञानात्मक और अरूपी हूँ, मेरा परमाणु मात्र भी अन्य कुछ नहीं है। मैं न पर पदार्थों का हूँ, और न पर-पदार्थ मेरे हैं, मैं तो ज्ञानरूप अकेला ही हूँ। न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण ही हूँ। न मैं पर पदार्थों का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं। यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है। जो केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभाव से युक्त सुखस्वरूप और केवल वीर्यस्वभाव है वही मैं हूँ। इस प्रकार ज्ञानी जीव को विचार करना चाहिये।

मैंने अपने ही विभ्रम से उत्पन्न हुए रागादिक अतुल बन्धनों से बँधे हुए अनन्तकाल पर्यन्त संसार रूप दुर्गम मार्ग में बिडम्बना रूप होकर विपरीताचरण किया। यद्यपि मेरा आत्मा परमात्मा है, परं ज्योति है, जगत्श्रेष्ठ है, महान् है, तो भी वर्तमान देखनेमात्र को रमणीक और अन्त में नीरस ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ठगाया गया हूँ। अनन्तचतुष्टयादि गुण समूह मेरे तो शक्ति की अपेक्षा विद्यमान हैं और अर्हत् सिद्धों में वे ही व्यक्त हैं। इतना ही हम दोनों में भेद है। न तो मैं नारकी हूँ, न तिर्यंच हूँ और न मनुष्य या देव ही हूँ किन्तु सिद्ध स्वरूप हूँ। ये सब अवस्थाएँ तो कर्म विपाक से उत्पन्न हुई हैं। मैं अनन्तवीर्य-अनन्त विज्ञान,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्त दर्शन व अनन्त आनन्द स्वरूप हूँ। इस कारण क्या विषवृक्ष के समान इन कर्म शत्रुओं को जड़मूल से न उखाड़।

बन्ध का विनाश करने के लिए विशेष भावना कहते हैं—मैं तो सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ, निर्विकल्प तथा उदासीन हूँ। निरंजन निज शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप सुखानुभूति ही है लक्षण जिसका, ऐसे स्वसंवेदनज्ञान के गम्य हूँ राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया व लोभ से तथा पंचेन्द्रियों के विषयों से, मनोवचनकाय के व्यापार से, भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित हूँ। ख्याति पूजा लाभ से देखे सुने व अनुभव किये हुए भोगों की आकांक्षा रूप निदान, माया, मिथ्या इन तीन शल्यों को आदि लेकर सर्व विभाव परिणामों से रहित हूँ। तिहूँ लोक, तिहूँ काल में मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना के द्वारा शुद्ध निश्चय मैं शून्य हूँ। इसी प्रकार सब जीवों को भावना करनी चाहिये।

ध्यान में ध्येय की स्फुटता

ध्याने हि बिभ्रते स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटम्।
आलेखितमिवाभाति ध्येयस्यासन्निधावपि ॥१३३॥

अर्थ—ध्यान करने योग्य पदार्थ के समीप न रहने पर भी ध्यान करने योग्य पदार्थ स्पष्ट रूप से ध्यान में स्थिरता को प्राप्त हो जाता है और चित्रलिखित के समान प्रतीत होता है ॥१३३॥

पिण्डस्थ ध्येय का स्वरूप

धातुपिण्डे स्थितश्चैवं ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः।
ध्येयपिण्डस्थमित्याहुरतएव च केवलम् ॥१३४॥

अर्थ—इस प्रकार चूँकि धातुपिण्ड में स्थित ध्यान करने योग्य पदार्थ का ध्यान किया जाता है, इसलिये इसे केवल ध्येय पिण्डस्थ कहते हैं ॥१३४॥

ध्याता ही परमात्मा

यदा ध्यानबलाद् ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहम्।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात् तादृक् संपद्यते स्वयम् ॥१३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदा तथाविधध्यानसंवित्तिध्वस्तकल्पनः ।
स एव परमात्मा स्याद् वैनतेयश्च मन्मथः ।।१३६।।
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।
एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः ।।१३७।।

अर्थ—ध्यान करने वाला व्यक्ति, ध्यान के बल से अपने शरीर को शून्य कर जिस समय ध्येय स्वरूप से आविष्ट हो जाता है उस समय वह स्वयं भी वैसा (ध्येय स्वरूप) बन जाता है इतना ही नहीं किन्तु उस समय उस प्रकार की ध्यान रूपी संवित्ति से कल्पनाओं को नष्ट करते हुए वही ध्याता, परमात्मा शिव, गरुड़ व मन्मथ (काम) रूप हो जाता है। बस इसी परिणति को समरसी भाव, तदेकीकरण कहते हैं। अर्थात् जो जैसे ध्येय का ध्यान करता है वह स्वयं ही वैसा बन जाता है। यही लोकद्वय (इहलोक-परलोक) में फल को देने वाली समाधि कही जाती है ।।१३५-१३७।।

सब ध्येय माध्यस्थ

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः ।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता ।।१३८।।

अर्थ—ज्यादा कहने (विवेचन करने) से क्या लाभ, अरे, परमार्थ से जानकर व श्रद्धान कर उनमें माध्यस्थ भाव को धारण करने वाले के लिये सारे ही पदार्थ ध्येय हो सकते हैं ।।१३८।।

माध्यस्थ्य के पर्यायवाची नाम

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहः ।
वैतृष्ण्यं परमः शान्तिरित्येकोऽर्थोऽभिधीयते ।।१३९ ।।

अर्थ—माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, समता, निष्पृहता, विष्तृणा और परम शान्ति ये सभी एकार्थक या पर्यायवाची कहे जाते हैं ।।१३९।।

परमेष्ठियों के ध्यान से सब ध्यान सिद्ध

संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तारात्परमागमे ।
तत्सर्वं ध्यानमेव स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिषु ।।१४०।।

अर्थ—जो यहाँ संक्षेप में कहा गया है, वह परमागम में विस्तार से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है। परमेष्ठियों का ध्यान करने से वह सभी ध्यान हो जाता है ।। १४०।।

विशेष—अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।।१०४।।
—मोक्ष प्रा०

अरहंत सिद्ध आचार्य परमेष्ठी के ध्यान से स्वात्मतत्त्व की सिद्धि हो आत्मा परमात्मा बन जाता है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पाँच परमेष्ठी भी जिस कारण आत्मा में स्थित हैं, उस कारण आत्मा ही मेरे लिये शरण है।

तात्पर्य यह कि अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी हमारे इष्ट देवता हैं, ध्येय हैं सो ये सभी स्वात्मा में स्थित हैं। अर्थात् आत्मा की ही परिणति रूप हैं। ये पाँचों मेरे साध्य की सिद्धि में इष्ट ध्येय हैं क्योंकि—केवलज्ञानादि गुणों से विराजमान होने तथा समस्त भव्यजीवों के संबोधन में समर्थ होने से मेरी यह आत्मा ही अरहंत है। समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त होने से निश्चयनय की अपेक्षा मेरी आत्मा ही सिद्ध है। दीक्षा और शिक्षा के दायक होने से पञ्चाचार के स्वयं आचरण तथा दूसरों को आचरण कराने में समर्थ होने से और सूरिमंत्र तथा तिलकमंत्र से तन्मय होने के कारण मेरी आत्मा ही आचार्य है। श्रुतज्ञान के उपदेशक होने से, स्वपर मत के ज्ञाता होने से तथा भव्यजीवों के संबोधक होने से मेरी आत्मा ही उपाध्याय है और रत्नत्रय के आराधक होने से सर्वद्वन्दों से रहित होने से, दीक्षा-शिक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि अनेक धर्म कार्यों की निश्चिन्तता से तथा आत्मतत्त्व की साधकता से मेरी यह आत्मा ही साधु है। इस प्रकार परमेष्ठियों के ध्यान से ध्याता स्वयं तद्रूप हो सर्वसिद्धि को प्राप्त हो जाता है—अर्हद्स्वरूपोऽहं, सिद्धस्वरूपोऽहं, आचार्यस्वरूपोऽहं, उपाध्यायस्वरूपोऽहं, साधुपरमेष्ठीस्वरूपोऽहं। सोऽहं, अहं, परमानन्द स्वरूपोऽहं।

निश्चयनय की अपेक्षा स्वावलंबन ध्यान के कथन की प्रतिज्ञा

व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयम् ।
निश्चयादधुना स्वात्मालम्बनं तन्निरूप्यते ।। १४१ ।।

अर्थ—इस तरह अभी तक जिस ध्यान का वर्णन किया गया वह सब व्यवहारनय से कहा हुआ ध्यान समझना चाहिये कारण कि उसमें पर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे का आलम्बन लेना पड़ता है। अब निश्चय नय से ध्यान का वर्णन किया जाता है जिसमें स्व-स्वरूप का आलम्बन हुआ करता है।

ब्रुवता ध्यानशब्दार्थं यद्रहस्यमवादिसत् ।
तथापि स्पष्टमाख्यातुं पुनरप्यभिधीयते ॥ १४२ ॥

अर्थ—यद्यपि ध्यान शब्द का अर्थ समझाते हुए, उसमें जो रहस्य था उसे कह दिया गया है तथापि स्पष्ट रूप से कथन करने के लिए फिर भी कुछ कहते हैं।

स्व को जाने-देखे-श्रद्धा करे

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिम् ।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥ १४३ ॥

अर्थ—ध्यान करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह स्व-पर को जैसी उनकी स्थिति है उस ढंग से, जाने व श्रद्धा करे। फिर दूसरे पदार्थों को अपने प्रयोजन का असाधक (सिद्ध करने वाला नहीं) समझ छोड़ते हुए, अपने आपको ही जाने व उसकी श्रद्धा करे ॥ १४३ ॥

विरम-विरम बाह्यादि पदार्थे,
रम-रम मोक्षपदे च हितार्थे,
कुरु-कुरु निजकार्यं च वितन्द्रं,
भव-भव केवलबोध यतीन्द्र ॥६८॥ —वै० म०

हे भव्यात्मन् ! यदि तू ध्यान की इच्छा करता है, ध्यान की सिद्धि चाहता है तो बाह्य—संसार, शरीर भोगों से विश्राम ले, विश्राम ले। तू स्त्री-पुत्र, महल, मकानादि जो बाह्य पदार्थ हैं उनसे अपनी प्रवृत्ति को हटा, राग को दूर कर, विरक्ति रूप परिणामों की वृद्धि कर, हितकारक जो आत्मा के असली वास करने का स्थान शिव पद है, उसमें ही लौ को लगा, वहीं क्रीड़ा कर, आलस्य रहित हो, स्व आत्म स्वरूपावलोकन रूप जो अपना कार्य है उसे पूरा कर, अन्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर यतियों के इन्द्रत्व पद को प्राप्त कर।

और भी कहते हैं—मुंच मुंच विषयामिषभोगम्
लुंप लुंप निजतृष्णारोगम्
रुंध रुंध मानसमातंगम्
धर-धर जीव विमलतरयोगम्।—वै ६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे प्राणी ! घृणित, इन्द्रिय विषय रूपी मांस का उपभोग करना तू छोड़ दे, अपने तृष्णा रूपी रोग को दूर हटा, मद से मदोन्मत्त मानस मतंग (हाथी) मनरूपी चाण्डाल को ज्ञानांकुश (ध्यानांकुश) से वश में कर, अत्यन्त निर्मल स्व आत्मा का ध्यान कर जिससे संसार से पार हो सके।

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।
तत्रैकाग्र्यं समासाद्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। १४४ ।।

अर्थ—सर्व प्रथम श्रुतज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा में संस्कार करे अर्थात् आत्मा में श्रुतज्ञान का संस्कार करे और तदनन्तर उसमें एकाग्र होकर कुछ भी चिन्तन न करे।। १४४ ।।

विशेष—अष्टपाहुड में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी मुनियों को सम्बोधन देते हुए कहते हैं हे मुने ! ध्यान की सिद्धि करना चाहते हो तो सार को ग्रहण करो, असार का त्याग करो। सार क्या है असार क्या है ?

आलोचना सार है, आलोचना नहीं करना असार है। परनिन्दा असार है, निज निन्दा करना सार है, गुरु के आगे अपने दोष नहीं कहना असार है, गुरु के आगे दोष कहना सार है, प्रतिक्रमण नहीं करना असार है, प्रतिक्रमण करना सार है, गृहीत व्रतों में दोष लगाना (विराधना) असार है, आराधना सार है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान असार है, सम्यग्दर्शन ज्ञान सार है। मिथ्याचारित्र व कुतप असार है, सम्यक्चारित्र व सुतप सार है। अयोग्य कार्य असार है, योग्य कार्य सार है। प्राणघात असार है, अभयदान सार है, असत्य भाषण असार है, सत्य भाषण सार है। अदत्त ग्रहण असार है, दी हुई वस्तु का ग्रहण सार है। मैथुन असार है, ब्रह्मचर्य सार है। परिग्रह असार है, निर्ग्रन्थपना सार है। रात्रि में भोजन असार है, दिन में एक बार प्रासुक भोजन करना सार है। आर्त्त-रौद्र ध्यान असार है, धर्म्य-शुक्लध्यान सार है। कृष्ण, नील, कापोत लेश्या असार है, तेज पद्मशुक्ल लेश्या सार है। आरम्भ असार है, अनारम्भ सार है, असंयम असार है, संयम सार है। वस्त्र सहित असार है, वस्त्र रहित सार है। केशलोच सार है, केशलोच नहीं करना असार है। स्नान असार है, अस्नान सार है, क्रोधादि कषायें असार हैं, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच भाव सार है। अशील असार है, सुशील सार है, शल्य असार है, निशल्य सार है। अमुक्ति संसार असार है, मुक्ति सार है, असमाधि असार है, सुसमाधि सार है। ममत्व असार है, निर्ममत्व सार है —(१०८ गा० सं० टीका)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार श्रुत के द्वारा सार असार को जानकर सार ग्रहण कर असार त्याग निःकेवल ज्ञानानदमयी निजानन्दस्वभावी चिदानन्द स्वरूप में लीन हो—

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह कि वि जेग होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव पर हवे ज्ञाणं ॥ ५६ ॥

—द्रव्यसंग्रह

किसी प्रकार की चेष्टा न करो, किसी प्रकार का अन्तर्जल्प भी न करो, किसी प्रकार की चिन्ता भी न करो कैसे भी आत्मस्वभाव में स्थिर हो जाओ। आत्मा का आत्मा में रत होना ही परम ध्यान है।

डरो मत श्रुतज्ञान की भावना करो

यस्तु नालम्बते श्रौतीं भावनां कल्पनाभयात् ।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वस्मिन् बहिश्चिन्तां बिभर्ति च ॥१४५॥

अर्थ—जो कल्पनाओं के डर से कि यदि आत्मा को अनेक विशेषणों वाला ख्याल करूँगा तो चित्त नाना कल्पनाओं के जाल में फँस जायगा, श्रुत सम्बन्धी भावनाओं का आलम्बन नहीं लेता वह अवश्य ही अपने (आत्मा के) विषय में मोह (अज्ञान) को प्राप्त हो जाता है और अन्य बाहिरी चिन्ताओं को करने लग जाता है ॥ १४५ ॥

विशेष—अरहंत तीर्थंकर भगवान् ने जिसका अर्थरूप से प्रतिपादन किया है और चार ज्ञान के धारी अष्टमहार्द्धियों से सहित तीर्थंकरों के युवराज-स्वरूप गणधरों ने जिसकी द्वादशांग रूप रचना की है उसे सूत्र कहते हैं। भावसूत्र और द्रव्यसूत्र की अपेक्षा सूत्र के दो भेद हैं—तीर्थंकर परमदेव के द्वारा प्रतिपादित जो अर्थ है वह भावसूत्र अथवा भावश्रुत है और गणधर देवों के द्वारा द्वादशांग रूप जो रचना हुई है वह द्रव्यसूत्र या द्रव्य-श्रुत है। (सूत्र प्रा० टीका)

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि ॥ ३ ॥ सू० पा०।

जिस प्रकार वस्त्र में छेद करने वाली लोहे की सुई डोरा से रहित होने पर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार सूत्र-शास्त्र की भावना या शास्त्र ज्ञान से रहित मनुष्य नष्ट हो जाता है। हे भव्यात्माओं! श्रुतज्ञान की भावना पुनः-पुनः करो क्योंकि जो सच्चे शास्त्र को जानता है वह संसार का नाश करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मभावना करो

तस्मान्मोहप्रहाणाय बहिश्चिन्तानिवृत्तये ।
स्वात्मानं भावयेत्पूर्वमैकाग्र्यस्य च सिद्धये ।। १४६ ।।

अर्थ—इसलिए मोह को नष्ट करने के लिये, बाहरी चिन्ताओं की निवृत्ति करने (हटाने या दूर करने) के लिये तथा एकाग्रता की प्राप्ति के लिये सबसे पहले अपने आपको आगे कहे माफिक भावित-भावना-युक्त करें ।। १४६ ।।

आत्मभावना कैसे करें ?

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ।। १४७ ।।

अर्थ—जैसे कि—मैं चेतन्य हूँ, असंख्यातप्रदेशों वाला हूँ, अमूर्तिक हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ, सिद्धस्वरूप हूँ और ज्ञानमय एवं दर्शनमय हूँ ।। १४७ ।।

विशेष–(१) अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व ये छः गुण तो जीवादि छहों द्रव्यों में पाये जाते हैं किन्तु ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य एवं चैतन्य केवल जीव द्रव्य में ही पाये जाते हैं। पुद्गल की अपेक्षा अमूर्तिकपना भी जीव में विशेष गुण है। सर्वज्ञेय को एक साथ जानने की योग्यता ज्ञान है, उनके सामान्यज्ञान को दर्शन कहते हैं। परम निराकुल अतीन्द्रिय ज्ञान का भोग सुख है। स्व स्वभाव में रहना, परस्वभाव रूप न होना तथा स्वभाव में परिणमन की अनन्तशक्ति होना सो वीर्य है। आत्म स्वभाव के अनुभव को चैतन्य कहते हैं। जीव के इन्हीं विशिष्ट गुणों का वर्णन उक्त कारिका में किया गया है। पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

'स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ।।' २१ ।। —इष्टोपदेश

(२) आत्मा परभाव एवं परकार्य का कर्ता नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। मन-वचन-काय के निमित्त से योग होता है। योग से क्रिया होती है और तब अशुद्धोपयोग के कारण आत्मा अपने को कर्ता भोक्ता समझने लगता है। वस्तुतः आत्मा तो उक्त श्लोक में वर्णित स्वरूप वाला है।

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ।। १४८ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—मैं परस्वरूप नहीं हूँ, अन्य मम स्वरूप नहीं है, मैं पर पदार्थ का नहीं हूँ, मेरा पर द्रव्य नहीं है, पर द्रव्य पर है और मैं तो मैं ही हूँ। अन्य द्रव्य अन्य का है और मैं अपना हूँ ॥ १४८ ॥

विशेष—न मैं नारक भाववाला हूँ, न मैं तिर्यंच हूँ, न मनुष्य, देव, नारको पर्यायवाला हूँ, न मैं पर का कर्ता हूँ, न कारियता—न कराने वाला हूँ, न मैं उनकी अनमोदना करने वाला हूँ। न मैं मार्गस्थान स्वरूप हूँ, न गुणस्थान रूप हूँ, न जीवस्थानरूप हूँ। न जीवादि पर द्रव्य रूप हूँ, न पर द्रव्य (चेतन-अचेतन-मिश्र) मुझ रूप हैं। न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ, न कर्ता हूँ, न करानेवाला हूँ और न अनुमोदक हूँ। न मैं राग रूप हूँ, न द्वेष रूप हूँ, न क्रोध रूप हूँ, न मान रूप हूँ, न माया रूप हूँ, न लोभ हूँ। मैं कौन हूँ ?

एगो मे सासगो आदा णाण दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ, अन्य कोई मुझ रूप नहीं, मैं पर रूप नहीं हूँ। मैं ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला हूँ। ज्ञान दर्शन के अलावा शेष समस्त भाव विभाव हैं, मुझ से बाह्य हैं, संयोग मात्र हैं। अन्य अन्य का है, मैं मेरा हूँ, मैं मुझ में हूँ, मैं अपने को अपने से अभिन्न देखता हुआ उसी में लीनता को प्राप्त होता हूँ।

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनम् ।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥ १४९ ॥

अर्थ—शरीर अलग है और मैं अलग हूँ। मैं चेतन हूँ और शरीर अचेतन है। यह अनेक है और मैं एक हूँ। यह विनाशवान् है और मैं अविनाशी हूँ ॥ १४९ ॥

अचेतनं भवेनाहं नाहमप्यस्म्यचेतनम् ।
ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ॥ १५० ॥

अर्थ—संसार में परिभ्रमण करने के कारण मैं अचेतन सा हो गया हूँ किन्तु मैं अचेतन नहीं हूँ। मैं ज्ञान स्वरूप हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है और अन्य किसी का मैं भी नहीं हूँ ॥ १५० ॥

विशेष—अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥

मैं निश्चय से एक, शुद्ध, दर्शनज्ञानमयी, सदा अरूपी, अविनाशी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा हूँ। मेरा ज्ञान दर्शन स्वरूप ही मेरा है मुझ से भिन्न एक परमाणु-मात्र भी कोई पदार्थ मेरा नहीं है।

योऽत्र स्वस्वामिसम्बन्धो ममाभूद्वपुषा सह।
यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः ॥ १५१ ॥

अर्थ—इस संसार में शरीर के साथ जो मेरा स्वस्वामिभाव सम्बन्ध हुआ है और जो एकता का भ्रम है, वह भी पर द्रव्य के सम्बन्ध से है, स्वरूप से नहीं है ॥ १५१ ॥

जीवादिद्रव्ययाथात्म्य ज्ञातात्मकमिहात्मना।
पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु ॥ १५२ ॥

अर्थ—मैं अपने में जीव आदि द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले आत्मा को देखकर पर द्रव्यों के प्रति उदासीन हूँ ॥ १५२ ॥

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः ॥ १५३ ॥

अर्थ—मैं सद् द्रव्य हूँ, मैं चैतन्य हूँ, मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ किन्तु सदा उदासीन रहने वाला हूँ। मैं प्राप्त हुए अपने शरीर प्रमाण हूँ। शरीर पृथक् हुआ आकाश की तरह अमूर्तिक हूँ ॥ १५३ ॥

सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असन्नेवास्मि चात्यन्तं पररूपाद्यपेक्षया ॥ १५४ ॥

अर्थ—स्वरूप चतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव) से मैं सदा अस्तित्व रूप ही हूँ और पररूप आदि (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एवं परभाव) से सदा नास्तित्व रूप ही हूँ ॥ १५४ ॥

यन्न चेतयते किञ्चिन्नाचेतयत् किञ्चन।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहम् ॥ १५५ ॥

अर्थ—जो कुछ नहीं जानते हैं, न जिनने कुछ जाना था और न भविष्य में कभी जानेंगे। इस प्रकार त्रैकालिक अज्ञानता को लिये शरीरादिक हैं वैसा मैं नहीं हूँ ॥ १५६ ॥

यदचेयत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा।
चेतनीयं यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहम् ॥ १५६ ॥

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

अर्थ—जिसने पहले जाना था, जो आगे भविष्य में जानेगा तथा वर्तमान में चिंतन करने योग्य है ऐसा मैं चिद् द्रव्य हूँ ॥ १५६ ॥

विशेष—केवलणाण सहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्ति सहावो सोऽहं इदि चितये णाणी ॥ ९६ ॥
—नियमसार

जो कोई केवलज्ञान स्वभाव है, केवलदर्शन स्वभाव है, परम सुखमय और केवलशक्ति अर्थात् अनन्तवीर्य स्वभाव है, वह मैं हूँ ऐसा ज्ञानी ध्याता आत्म भावना करे।

णियभावं ण वि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केई।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोऽहं इदि चिंतए णाणी ॥ ९७ ॥
—नियमसार

जो आत्मभाव को कभी नहीं छोड़ता और परभाव को कभी भी ग्रहण नहीं करता, परन्तु सबको जानता देखता है वह मैं हूँ ऐसा विचार ज्ञानी ध्याता को करना चाहिये।

स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत्।
नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥ १५७ ॥

अर्थ—यह संसार अपने आप न तो इष्ट है और न ही अनिष्ट है अपितु उदासीन रूप है मैं न तो राग करने वाला हूँ और न ही द्वेष करने वाला हूँ किन्तु उपेक्षा करने वाला अर्थात् उदासीन रूप हूँ ॥ १५७ ॥

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किञ्चन ॥ १५८ ॥

अर्थ—शरीर आदि मुझ से भिन्न हैं और वास्तव में मैं भी उनसे भिन्न हूँ। मैं इनका कुछ भी नहीं हूँ और ये मेरे भी कोई नहीं हैं ॥१५८॥

विशेष—ध्यान करने वाले को चाहिये कि पहले वह निर्विकल्प होने के लिए शरीर, पुत्र, मित्र, शिष्य, देश, ग्राम, मन्दिर, तीर्थ आदि पदार्थों को आत्मा से सर्वथा भिन्न माने तथा स्वयं को उनका या उन्हें अपना मानना छोड़े।

एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः।
विधाय तन्मयं भावं न किञ्चिदपि चिन्तये ॥ १५९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—इस प्रकार अन्य पदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा का अच्छी तरह से निश्चय करके अपने भाव को आत्ममय बनाकर अन्य किसी का भी चिन्तन नहीं करता हूँ ।। १५९ ।।

विशेष—ध्यान स्थिरता का नाम है। अपने आत्मा में स्थिरता प्राप्त करने के लिए आत्मा को शुद्ध निश्चय स्वरूप की भावना करना चाहिये। भावना करते-करते जब मन स्थिर हो जाता है, तभी आत्मा का अनुभव होता है। यह ध्यान अल्प समय तक रहे तब भी उपकारी ही समझना चाहिये। क्योंकि ध्यान तो उत्तम संहनन वालों के भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकता है, फिर हीन संहनन वालों की तो बात ही क्या ? उनकी भावना तो बहुत देर तक रह सकती है, परन्तु बीच-बीच में कुछ समय तक ही रह सकता है। अतः रागादि तथा बाह्य एवं आन्तरिक विकल्पों को छोड़कर मन को एकाग्र करके आत्मा के निरञ्जन स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। श्री देवसेनाचार्य ने कहा है—

रायादिया विभावा बहिरंतरउहवियप्प मुत्तूणं ।
एयग्गमणो झायहि निरंजणं णिययअप्पाणं ।। १८ ।। —तत्त्वसार

चिन्ता का अभाव तुच्छभाव नहीं अपितु स्वसंवेदनरूप

चिन्ताभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव ।
दृग्बोधसाम्यरूपस्य यत्स्वसंवेदनं हि सः ।। १६० ।।

अर्थ—मिथ्यादृष्टियों के समान जैन लोगों के यहाँ चिन्ता के अभाव को तुच्छाभाव नहीं माना है कारण कि वह (चिन्ताभाव) सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान व साम्यभाव का जो स्वसंवेदन है, उस रूप माना गया है। नीचे की पंक्ति का ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि चिन्ताभाव अभाव रूप नहीं है वह तो दृग-बोध के साम्यरूप का जो स्वसंवेदन है उस रूप माना गया है। इस तरह वह निषेध रूप न होते हुए विधि रूप ही है ।। १६० ।।

विशेष—तत्त्वानुशासन का प्रकृत कथन मूलतः तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक से प्रभावित रहा है। ध्यानस्तव में कहा गया है—

'नानालम्बनचिन्ताया यदेकार्थे नियन्त्रणम् ।
उक्तं देव त्वया ध्यानं न जाड्यं तुच्छतापि वा ।। ६ ।।
ज्ञस्वभावमुदासीनं स्वस्वरूपं प्रपश्यता ।
स्फुटं प्रकाशते पुंसस्तत्त्वमध्यात्मवेदिनः ।। ७ ।।'

अर्थात् अनेक पदार्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता को जो एक ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ में नियन्त्रित किया जाता है, उसे हे देव ! आपने ध्यान कहा है। वह ध्यान न तो जड़तास्वरूप है और न तुच्छता रूप ही है। जीव का स्वरूप ज्ञानमय एवं उदासीन है। जो इसे देखता-जानता है, उस अध्यात्म-वेदी को स्पष्ट रूप से तत्त्व प्रतिभासित हो जाता है। ध्यानस्तव के इन दो श्लोकों पर तत्त्वानुशासन के प्रकृत श्लोक का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

स्वसंवेदन का स्वरूप

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥१६१॥

अर्थ—योगियों को अपनी आत्मा का अपने द्वारा जो वेद्यत्व अर्थात् ज्ञान विषय होना और वेदकत्व अर्थात् ज्ञाता होना है, उसे स्वसंवेदन कहते हैं। सम्यग्दर्शन रूप आत्मानुभव भी स्वसंवेदन कहलाता है ॥१६१॥

विशेष—अनुभव चिन्तामणि रतन अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष का अनुभव मोक्षस्वरूप ॥

जिस समय आत्मानुभव प्राप्त होता है उस समय जीव की एक विचित्र दशा हो जाती है। छह रस का आनन्द सूख जाता है, पंचेन्द्रिय विषय अच्छे नहीं लगते हैं। गोष्ठी, कथा, कुतूहल आदि में मन नहीं रमता है, मन रूपी पंछी मर जाता है, ज्ञानानन्द का अमृत बरसता है, जो आत्मघट में नहीं समाता अर्थात् अतीन्द्रिय, अपूर्व आनन्द का रसास्वादन आता है जैसा कि कहा है—

आतम अनुभव आवे जब निज आतम अनुभव आवे,
और कछु न सुहावे जब निज आतम अनुभव आवे।
रस नीरस हो जाय ततक्षण अक्षविषय नहीं भावे ॥ १ ॥
गोष्ठी कथा कुतूहल सब विघटे, पुद्गल प्रीति नशावे ॥ २ ॥
राग-द्वेष युग चपल पक्ष युत, मन पंछी मर जावे ॥ ३ ॥
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै घट अन्तर न समावे ॥ ४ ॥
जब निज आतम...............

स्वसंवेदन की ज्ञप्तिरूपता

स्वपरज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य कारणान्तरम्।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—स्वसंवेदन के आत्मज्ञान एवं परज्ञान रूप होने से अन्य कारण की आवश्यकता नहीं है, इसलिए चिन्ता को छोड़कर स्वसंवेदन के द्वारा ही आत्मा को जानना चाहिये ॥१६२॥

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्नुदासिता ।
चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयताम् ॥१६३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं समता रूप होने से आत्मा जानता हुआ एवं देखता हुआ भी उदासीन रूप है। सामान्य एवं विशेष चैतन्य रूप है। ऐसे आत्मा का अपने आत्मा के द्वारा ही अनुभव करना चाहिये ॥१६३॥

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम् ।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥१६४॥

अर्थ—मैं कर्मों से उत्पन्न होने वाले सभी भावों से भिन्न हूँ। ज्ञाता स्वभाव एवं उदासीन आत्मा को आत्मा के द्वारा जानना चाहिये ॥१६४॥

विशेष—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित सिद्ध होते हैं, जो लोकाग्र में अपने शुद्ध स्वरूप में विराजमान रहते हैं। वे परम शुद्ध ज्ञान रूप तथा निर्विकार होने से उदासीन होते हैं। ध्याता जब अपने को सिद्ध समान मनन करता है तो उसे स्वानुभव का प्रकाश मिलता है। देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में कहा है कि—

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धोए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥

अर्थात् सिद्धगति में जैसे सिद्ध भगवान् सर्वमलरहित एवं ज्ञानस्वरूपी रहते हैं, वैसे ही अपनी देह में स्थित परम ब्रह्म को जानना चाहिये।

जारिसया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीवतारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का, अट्ठगुणलंकिया जेण ॥ ४७ ॥

यन्मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितम् ।
तन्मध्यस्थ्यं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयम् ॥१६५॥

अर्थ—जो आत्मस्वरूप मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याज्ञान से रहित है, उसे माध्यस्थ्य कहते हैं। उसका आत्मा में अपने आप संवेदन करना चाहिये ॥१६५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्त्वतः।
वितर्कास्तन्न पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः ॥१६६॥

अर्थ—वह रूपादि रहित होने से इन्द्रिय ज्ञान द्वारा जाना नहीं जा सकता और देखा भी नहीं जा सकता। वितर्क भी उसे जान नहीं सकता और देख नहीं सकता। कारण कि वे वितर्क अस्पष्ट तर्कणारूप होते हैं ॥१६६॥

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियम्।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यताम् ॥१६७॥

अर्थ—आत्मा के दोनों (माध्यस्थ्य एवं उदासीनता) से भरपूर होने पर वह अतीन्द्रिय किन्तु अत्यन्त स्पष्ट होता है। निश्चय ही उसका स्वरूप स्वसंवेद्य होता है, इसलिये उसे स्वसंवेदन से ही देखना चाहिये ॥१६७॥

विशेष—दोनों (इन्द्रिय ज्ञान और वितर्क) की प्रवृत्ति रुक जाने पर, आत्मा का अतीन्द्रिय स्वरूप विशेष स्पष्ट हो जाता है। निश्चय से उसका वह स्वरूप स्वसंवेदन से जानने योग्य है अतः स्वसंवेदन को ही देखना चाहिये।

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासते।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि ॥१६८॥

अर्थ—शरीर का प्रतिभास या ज्ञान न होने पर भी ज्ञान स्वरूप यह चेतना स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकाशित होती है और स्वयं ही दिखाई देती है ॥१६८॥

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्च्छावान् मोह एव सः ॥१६९॥

अर्थ—समाधि में विद्यमान या ध्यान लगाये हुए ध्याता के द्वारा यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं किया जा रहा है तो उसका वास्तविक ध्यान नहीं है और वह परिग्रहासक्त मोही ही है ॥१६९॥

विशेष—ध्यानस्तव में भी कहा गया है—

समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नावभासते।
न तद् ध्यानं त्वया देव गीतं मोहस्वभावकम् ॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् समाधि में स्थित योगी को यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रतिभासित नहीं होती है तो मोह स्वभाव होने के कारण उसके ध्यान को यथार्थ ध्यान नहीं कहा जा सकता है। ध्यानस्तव के इस कथन का आधार तत्त्वानुशासन का प्रकृत श्लोक ही है। इसमें शब्दगत एवं अर्थगत साम्य देखा जा सकता है।

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम् ॥१७०॥

अर्थ—उस (ज्ञानात्मा) का अनुभव करता हुआ यह उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त होता है और वाणी के द्वारा अकथनीय आत्मा के आधीन रहने वाले आनन्द को प्राप्त होता है॥ १७०॥

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥१७१॥

अर्थ—जिस प्रकार वायु से रहित स्थान में स्थित दीपक कम्पित नहीं होता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप में लीन यह योगी एकाग्रता को नहीं छोड़ता है॥ १७१॥

विशेष—ध्याता को चाहिये कि निश्चयनय का आश्रय लेकर आत्मा को ध्यावे तो उसे आत्मा शुद्ध दिखलाई पड़ेगी। उपयोग अन्य सभी आत्माओं से हटाकर अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव में एकाग्र करे। क्योंकि शुद्धोपयोग की अवस्था में ही स्वानुभव रहता है और वही आत्मा का ध्यान है। निश्चलता की स्थिति में ही आत्मा का ध्यान हो सकता है। यही बात यहाँ पर कही गई है। देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में एक अन्य उदाहरण द्वारा कहा है कि—

'सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियं पि जह रयणं।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले॥ ४१॥

अर्थात् जिस प्रकार तालाब के जल के निश्चल हो जाने पर तालाब में पड़ा हुआ रत्न दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार मनरूपी पानी के स्थिर हो जाने पर निर्मल भाव में अपना अपना आत्मा दिख जाता है।

तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यन्न किञ्चनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥१७२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—तब परम एकाग्रता धारण करने के कारण अपनी आत्मा में अपने आपको देखने वाले योगी को बाह्य पदार्थों के होने पर भी अन्य कुछ प्रतीत नहीं होता ॥ १७२ ॥

शून्याशून्य स्वभाव आत्मा की आत्मा के द्वारा प्राप्ति

अतएवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः ।
शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥१७३॥

अर्थ—इसलिये अन्य पदार्थों से शून्य होता हुआ भी यह आत्मा स्वरूप से शून्य नहीं है। शून्य एवं अशून्य स्वभाव कथंचित् शून्य व कथंचित् अशून्य को लिये हुए यह आत्मा आत्मा के द्वारा ही प्राप्त होता है ॥१७३॥

स्वात्मा ही नैरात्म्याद्वैत दर्शन

ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याद्वैतदर्शनम् ।
तदेतदेव यत्सम्यगन्यापोहात्मदर्शनम् ॥१७४॥

अर्थ—इसलिये जो मुक्ति के लिये नैरात्म्याद्वैत दर्शन माना जाता है वह यही तो है। जो भले प्रकार से, अन्य पदार्थों से रहित आत्मा का दर्शन होना है अर्थात् अन्य पदार्थों से रहित केवल स्वात्मा के दर्शन करने को ही तो नैरात्म्याद्वैत दर्शन कहते हैं ॥ १७४ ॥

विशेष—भाव यह है कि प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्यों का अभाव रूप होता है। आत्मा भी आत्मा से भिन्न पदार्थों का अभावरूप है। इस कारण अपना आत्मा अन्य आत्मा के अभाव रूप होने से नैरात्म्याद्वैत दर्शन कहलाता है।

स्वात्मा ही नैर्जगत्य

परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथञ्चन ।
नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः ॥१७५॥

अर्थ—किसी प्रकार से सभी भाव या पदार्थ परस्पर परावृत्तरूप हैं, अतः जैसे जगत् का नैरात्म्य अर्थात् आत्मा से भिन्नत्व है वैसे ही आत्मा का नैर्जगत्य अर्थात् जगत् से भिन्नत्व है ॥ १७५ ॥

विशेष—संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने से भिन्न अन्य सभी पदार्थों के अभाव रूप है। अतएव जिस प्रकार संसार आत्मा से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा भी संसार से भिन्न है। यही उक्त कथन का अभिप्राय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैरात्म्य दर्शन

अन्यात्माभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः ।
स्वात्मदर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्यदर्शनम् ।।१७६।।

अर्थ—अन्य आत्माओं का अभाव ही नैरात्म्य कहा जाता है और वह स्वात्मसत्तात्मक अर्थात् अपनी आत्मा की सत्ता रूप है । इसलिए अपनी आत्मा का दर्शन ही सही नैरात्म्यदर्शन है ।। १७६ ।।

विशेष—एक आत्मा में अन्य आत्माओं के अभाव को नैरात्म्य कहते हैं जो कि अपनी आत्मसत्तारूप है इसलिये स्वयं की आत्मा के दर्शन का ही नाम समीचीन नैरात्म्यदर्शन है ।

द्वैताद्वैत दृष्टि

आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयम् ।।१७७।।

अर्थ—प्राणी आत्मा को अन्य पदार्थ से सम्बन्धित देखता हुआ द्वैत को देखता है परन्तु आत्मा को अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से भिन्न (रहित) देखता हुआ आत्मा को अद्वय देखता है ।। १७७ ।।

विशेष—तात्पर्य आत्मा को अन्य से सम्बद्ध देखने वाला द्वैत को देखता है और आत्मा को अन्यों से विभक्त देखने वाला अद्वैत को देखता है । इस तरह एक आत्मा का अन्य आत्मा से विभिन्न दिखाई देना इसका नाम नैरात्म्यदर्शन है । अन्य से असम्बद्ध आत्मा को दिखाई देने का नाम अद्वैतदर्शन है । दोनों में यही विशेषता पाई जाती है ।

आत्मदर्शन का फल

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ।।१७८।।

अर्थ—अहंकार एवं ममकार भावों को नष्ट कर चुकने वाला यह आत्मा एकाग्रता से आत्मा को देखता हुआ संग्रहीत पापों को नष्ट कर देता है तथा आनेवाले कर्मों को भी रोक देता है ।। १७८ ।।

विशेष—योगी जब अहंकार एवं ममकार भावों को नष्ट कर देता है तो बुद्धिपूर्वक उसके मन-वचन-काय अवरुद्ध करने में समर्थ हो जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। ध्यान के समय वह उपयोग से छुटकारा पाकर निश्चयनय के आश्रय से शुद्धात्मा में अपने को वैसे ही लीन कर लेता है जैसे पानी में नमक की डली एकमेक हो जाती है। तब स्वानुभव प्रकट हो जाता है और यही स्वानुभव संवरपूर्वक निर्जरा का कारण होता है। देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं—

मणवयणकायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं।
चिरबद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं॥ ३२॥

अर्थात् योगी के मन-वचन-काय रुक जाने पर निश्चय से कर्मास्रव रुक जाता है तथा दीर्घकाल में बाँधे गये कर्म बिना फल दिये ही स्वयं गल जाते हैं।

यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिम्।
समाधिप्रत्ययाश्चास्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा॥१७९॥

अर्थ—अच्छी तरह ध्यान करने वाला यह आत्मा जैसे-जैसे अपनी आत्मा में स्थिति को प्राप्त करता है, वैसे-वैसे इसकी समाधि के कारण भी स्पष्ट हो जाते हैं॥ १७९॥

विशेष—श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

यथा-यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा-तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि॥ ३७॥
यथा-यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा-तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥ ३८॥

ध्याता जितना-जितना ध्यान में एकाग्रता को प्राप्त होता है उतना-उतना उसे तत्त्व का उत्तम संवेदन प्राप्त होता है और जैसे-जैसे तत्त्वों में प्रीति प्राप्त होती है वैसे-वैसे पंचेन्द्रिय विषय सुलभ होने पर भी रुचिकर नहीं लगते हैं। जैसे-जैसे विषयों की सुलभता में भी रुचि का अभाव होता जाता है वैसे-वैसे स्वानुभव-स्वसंवेदन की प्राप्ति भव्यात्मा को होने लगती है। अतः ध्याता यदि आत्मस्थिति को प्राप्त करना चाहता है तो उसे ध्यान की एकाग्रता को प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये।

धर्म्यशुक्लध्यानों में भेदाभेद

एतद् द्वयोरपि ध्येयं ध्यानयोधर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यताम्॥१८०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—धर्म्य और शुक्ल दोनों ही ध्यानों में यह आत्मतत्त्व ही ध्यान करने योग्य होता है। विशुद्धि और स्वामी के भेद से उन दोनों में भेद समझना चाहिये ॥ १८० ॥

स्वात्मदर्शन अति दुःसाध्य

इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानावलम्बनात् ।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागवलक्ष्यते ॥१८१॥

अर्थ—सूक्ष्म ज्ञान का आश्रय लेने के कारण इस आत्मा का ध्यान करना अत्यन्त दुःसाध्य है। बुद्धिमान् लोगों के द्वारा समझाये जाने पर भी यह शीघ्र दिखलाई नहीं पड़ता है ॥ १८१ ॥

तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टादृष्टफलं च यत् ।
स्थूलं वितर्कमालम्ब्य तदभ्यस्यन्तु धीधनाः । १८२॥

अर्थ—इसलिये जो जाना जा सकता है, किया जा सकता है और जिसका फल प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि से जाना जा सकता है ऐसे स्थूल विचारों का आलम्बन ले बुद्धिमान पुरुषों को उसका अभ्यास करना चाहिये ॥ १८२ ॥

आकारं मरूतापूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना ।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म भस्म विरेच्य च ॥१८३॥
हमंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि ।
तेनाऽन्यत्तद्विनिर्म्माय पीयुषमयमुज्ज्वलम् ॥१८४॥
तत्तादौ पिंडसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च ।
मारूतीं तैजसीमाथां(प्यां) विदध्याद्धारणां क्रमात् ॥१८५॥
ततः पंचनमस्कारैः पंचपिंडाक्षरान्वितैः ।
पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलां क्रियाम् ॥१८६॥
पश्चादात्मामर्हंतं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम् ।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्त्तं ज्ञानभास्वरम् ॥१८७॥

अर्थ—"अर्हं" मंत्र का ध्यान करना चाहिये। उसमें से पूरक वायु के द्वारा अकार को पूरित व कुम्भित करके तथा रेफ में से निकलती हुई अग्नि के द्वारा अपने शरीर के साथ ही साथ कर्मों को जलावे। शरीर व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

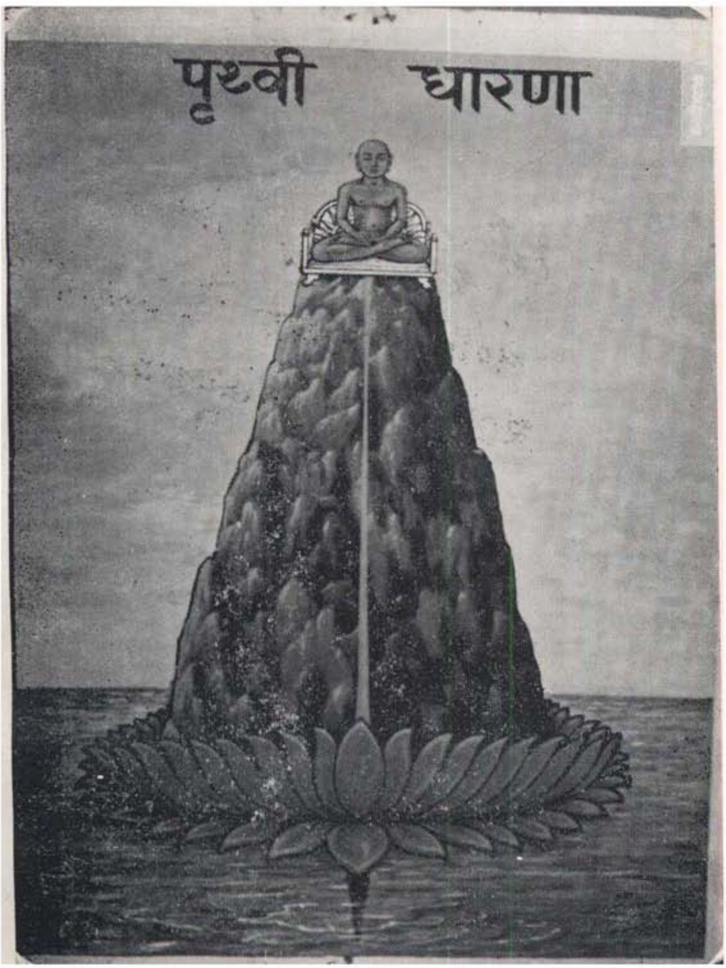

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

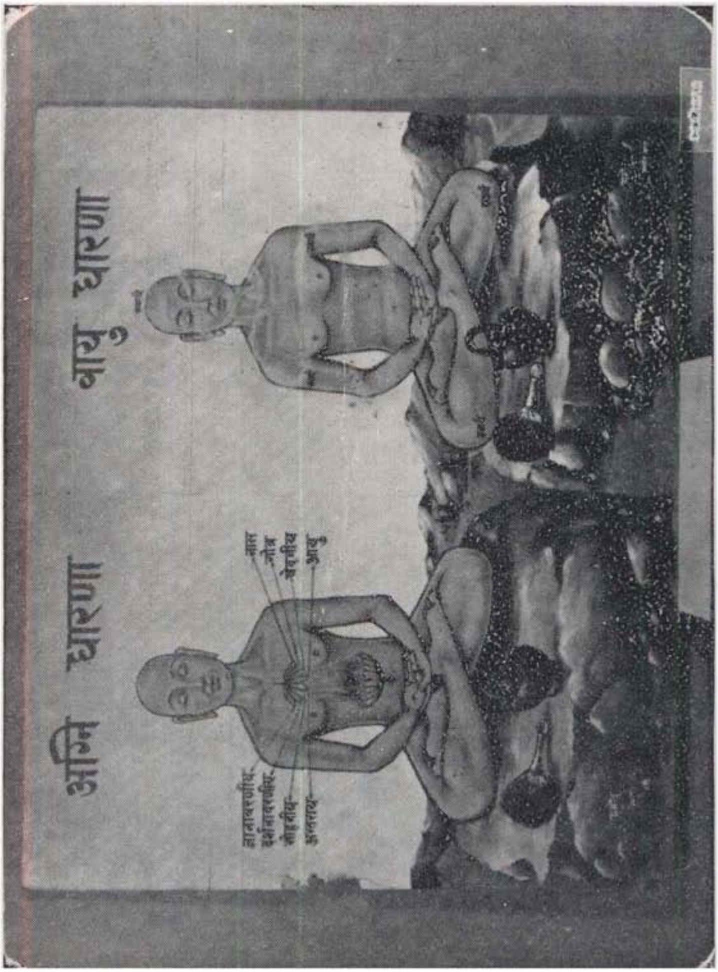

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

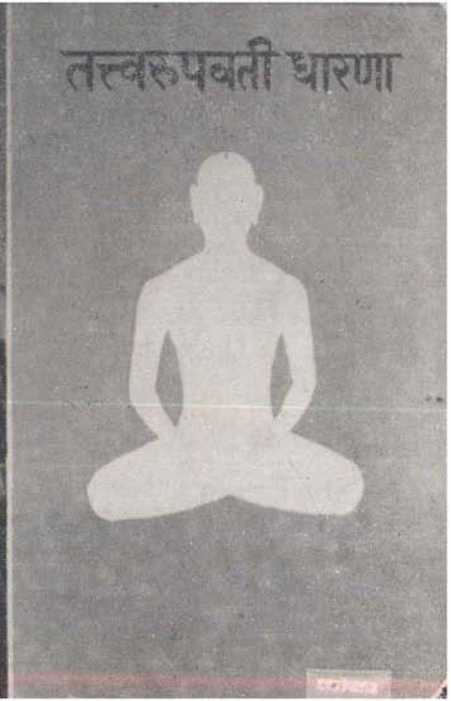

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म के जलने से तैयार हुई भस्म का विरेचन कर "ह" मंत्र का, जिससे कि अमृत झर रहा हो, आकाश में ध्यान करना चाहिये। फिर उस अमृत से एक दूसरे अमृतमय उज्ज्वल शरीर का निर्माण करना चाहिये। सो पहिले तो शरीर की रचना के लिये मारुती (वायवीय) धारणा का और बाद में उसको निर्मल करने के लिये तैजसी तथा जलीय धारणा को क्रम से करे। तदनन्तर पंच स्थानों में बनाये गये पाँच पिंडाक्षरों से युक्त नमस्कार मंत्र से सकली-करण नाम की क्रिया अथवा समस्त क्रियाओं को करे। इसके बाद, जिनका स्वरूप पहिले लिखा जा चुका है ऐसे अर्हन्त स्वरूप से अपनी आत्मा को ध्यावे अथवा नष्ट कर दिये हैं अष्ट कर्म जिसने ऐसे, अमूर्तिक ज्ञान से प्रकाशमान सिद्ध स्वरूप अपने को ध्यावें। ॥१८३–१८७॥

विशेष—पिण्डस्थ ध्यान में पाँच धारणाएँ होती हैं। १. पार्थिव २. आग्नेयी ३. मारुती ४. वारुणी ५. तात्विकी।

१. पार्थिव धारणा

प्रथम योगी किसी निर्जन स्थान में एक राजू प्रमाण मध्यलोक के समान निःशब्द निस्तरंग और कपूर अथवा बरफ या दूध के समान सफेद क्षीर समुद्र का ध्यान करे। उसमें जम्बूद्वीप के बराबर सुवर्णमय हजार पत्तों वाले कमल का चिन्तन करें। वह कमल पद्मरागमणि के सदृश केशरों के पंक्ति से सुशोभित हो मन रूपी भौंरे को अनुरक्त करने वाला हो। फिर उस जम्बूद्वीप में जितने विस्तार वाले सहस्रदल कमल में सुमेरूमय दिव्य कर्णिका का चिन्तन करें। फिर उस कर्णिका में शरद काल के चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण का एक ऊँचा सिंहासन चिन्तन करें। उस सिंहासन पर अपने को सुख से बैठा हुआ शान्त जितेन्द्रिय और रागद्वेष से रहित चिन्तवन करें।

इस धारणा में एक मध्यलोक के बराबर निर्मल जल का समुद्र चिन्तन करें और उसे मध्य में जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन चौड़ा स्वर्ण रंग के कमल का चिंतन करें। इसकी कर्णिका का मध्य में सुमेरू पर्वत का चिन्तन करें। उस सुमेरू पर्वत के ऊपर पाण्डुक वन में पाण्डुक शिला तथा उस शिला पर स्फटिक मणि के आसन एवं आसन पर पद्मासन लगाये ध्यान करते हुए अपना चिन्तन करे।

२. आग्नेयी धारणा

इसके पश्चात् वह ध्यानी पुरुष अपने नाभिमण्डल में सोलह ऊँचे पत्तों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले एक मनोहर कमल का ध्यान करें। फिर उस कमल के सोलह पत्तों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन सोलह अक्षरों का ध्यान करें। और उस कमल की कर्णिका पर "अर्हं" इस महामन्त्र का चिन्तन करें। इसके पश्चात् उस महामन्त्र के रेफ से निकलती हुई धूम की शिखा का चिन्तवन करे। उसके पश्चात् उस महामन्त्र के रेफ से निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिन्तन करें। फिर क्रम से बढ़ते उस ज्वाला के समूह से अपने हृदय में स्थित कमल आठ पत्तों का हो, उसका मुख नीचे की ओर हो और उन आठ पत्तों पर आठ कर्म स्थित हों। उस कमल को नाभि में स्थित कमल की कर्णिका पर विराजमान "र्हं" से उठती हुई प्रबल अग्नि निरन्तर जला रही है, ऐसा चिन्तन करें। उस कमल के दग्ध होने के पश्चात् शरीर के बाहर त्रिकोण अग्नि का चिन्तन करें। वह अग्नि बीजाक्षर "र" से व्याप्त हो और अन्त में स्वि स्वस्तिक से चिह्नित हो। इस प्रकार वह धगधग करती हुई लपटों के समूह से देदीप्यमान अग्निमंडल नाभि में स्थित कमल और शरीर को जलाकर राख कर देता है। फिर कुछ जलाने को न होने से अग्नि मण्डल धीरे-धीरे स्वयं शांत हो जाता है।

३. मारुती धारणा

ध्यानी पुरुष आकाश में विचरण करते हुए महावेग वाले बलवान वायु मण्डल का चिन्तन करे। फिर यह चिन्तन करे कि उस शरीर वगैरह की भस्म को उस वायुमण्डल का चिन्तन करे। फिर यह चिन्तन करे कि उस शरीर वगैरह की भस्म को उस वायु मण्डल ने उड़ा दिया। फिर (यह चिन्तन) उस वायु को स्थिर रूप चिन्तवन करके शान्त कर दे।

(स्वा० का०)

अथवा

आग्नेय धारणा के पश्चात् हृदय में कल्पना करे कि सम्पूर्ण नभ-मण्डल में फैलनेवाली, पृथ्वीमंडल के सम्पूर्ण हिस्सों में पहुँचनेवाली, जोर की वायु बह रही है तथा हृदय में महान आनन्द का अनुभव करे।

फिर विचारे या चिंतन करे कि उस जोर के बहने वाले वायु समूह के द्वारा अग्नि में जली हुई उस शरीर का भस्म यहाँ वहाँ उड़ा दी गई है। तदनन्तर उस उठे हुए वायुमंडल को सद्ध्यान द्वारा धीरे-धीरे बारहवें स्थान के अन्त स्थान में स्थापित करे फिर सिद्ध भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। यह मारुती धारणा है [वै.म. ४२-४३]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वारुणी धारणा

मारुती धारणा के अनन्तर उस ध्याता को चाहिये कि वह आकाश में गर्जना करते हुए घनघोर बादलों का, खूब गहरे रंग वाले विशाल इन्द्र-धनुष का, बिजली का, जल वर्षा का, जल के प्रवाह के पूर से सूर्य के बह जाने का चिन्तन करे, अर्थात् वह समझे कि जोर से वर्षा हो रही है और बिजली चमक रही है, पानी के जोरदार प्रवाह से सूर्य भी बहा जा रहा है घनघोर घटाएँ छाई हुई हैं। इसके बाद बाधाओं से रहित अर्धचन्द्रसम गोल मानो कि श्रेष्ठ चन्द्रमण्डल से वर्षा हो रही हो ऐसा सम्पूर्ण क्रियाओं व अभिलाषाओं की पूर्ति कर देने वाले वरुणपुर (मण्डल) का चिन्तन करें। उस दिव्य ध्यान से उत्पन्न हुए जल से उत्पन्न हुई राख को धोता है ऐसा चिन्तन करे। पश्चात् अपनी मनोहर कान्ति से जिसने दशों दिशाओं को निर्मल कर दिया, जो दर्शन, ज्ञान, वीर्य व मोक्ष रूप है, जिसमें गोलाई, लम्बाई आदि विकार नहीं पाये जाते हैं जिसका निवास स्थान रूप शरीर अत्यन्त निर्मल है ऐसो सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा का हृदय में ध्यान करे।

तत्त्वरूपवती धारणा

पश्चात् ध्यानी पुरुष अपने को सर्वज्ञ के समान सप्तधातु रहित, पूर्णचन्द्रमा के समान प्रभावाला, सिंहासन पर विराजमान, दिव्य अतिशयों से युक्त, कल्याणकों की महिमा सहित, देवों से पूजित और कर्मरूपी कलंक से रहित चिन्तन करे। पश्चात् अपने शरीर में स्थित आत्मा को अष्टकर्मों से रहित, अत्यन्त निर्मल पुरुषाकार चिन्तन करे।

एक शंका

नन्वनर्हन्तमात्मानमर्हन्तं ध्यायतां सताम्।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिर्भवतां भवतीति चेत् ॥१८८॥

अर्थ—यहाँ शङ्का है कि आत्मा अर्हन्त नहीं है। आत्मा को अर्हन्त मानकर ध्यान करने वाले आप सज्जनों का ध्यान जो जैसा नहीं है उसमें वैसा ग्रहण करने वाला होने से भ्रान्ति होगा ॥१८८॥

शंका का समाधान

तन्न चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः।
स चार्हद्ध्याननिष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ॥१८९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात्स्वयं तस्मात् ॥१९०॥

अर्थ—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि हम लोगों ने उसे नयदृष्टि से भाव अर्हन्त माना है और वह ध्याता अर्हन्त के ध्यान में तल्लीन आत्मा वाला है। इसलिये उस (अर्हन्त) में ही उस (आत्मा) का ग्रहण होता है। आत्मा जिस भाव से परिणमित होता है, वह उसी भाव से तन्मय हो जाता है। इसलिये अर्हन्त के ध्यान में तल्लीन आत्मा स्वयं भाव अर्हन्त हो जाता है ॥१८९-१९०॥

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

अर्थ—जैसे उपाधि से युक्त स्फटिक मणि तन्मयता को प्राप्त हो जाता है वैसे आत्मा को जानने वाला ध्याता आत्मा का जिस भाव से ध्यान करता है वही उसी रूप (तन्मय) हो जाता है ॥१९१॥

विशेष—भावार्थ यह है कि जैसे स्फटिक मणि के पीछे जिस रंग का पदार्थ रखा रहता है, स्फटिक मणि उसी रंग की मालूम पड़ने लगती है। उसी प्रकार आत्मा को जानने वाला योगी अपनी आत्मा का जिस रूप में ध्यान करता है, वह उसी रूप हो जाती है। योगी जब अपनी आत्मा का ध्यान अर्हन्त भगवान् मान कर करेगा तो उसे अन्य अवस्था में विद्यमान होने पर भी अपनी आत्मा अर्हन्त भगवान् रूप ही प्रतीत होगा। ध्यान का ऐसा ही माहात्म्य है।

दूसरी तरह से समाधान

अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः ।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥१९२॥

अर्थ—अथवा द्रव्यनिक्षेप से सब द्रव्यों में भावी और भूतकालिक अपनी पर्यायें सदा तदात्मक ही प्रतीत होती हैं ॥१९२॥

विशेष—भाव यह है कि द्रव्यनिक्षेप के अनुसार वर्तमानकालीन आत्मामें भविष्यत्कालीन अर्हन्त की पर्याय प्रतिभासित होने लगती है, क्योंकि योगी आत्मा की आगे होने वाली अर्हन्त पर्याय का ध्यान करता है ॥१९२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा ।
भव्येष्वास्ते सतश्चास्य ध्याने को नाम विभ्रमः ॥१९३॥

अर्थ—तब भव्य प्राणियों में यह भविष्यत्कालीन अर्हन्त की पर्याय द्रव्यनिक्षेप से सदा विद्यमान रहती है, इसलिए सज्जन व्यक्ति को इस आत्मा के ध्यान में भ्रान्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १९३ ॥

विशेष—अतः अर्हन्त पर्याय जो कि पर्यायदृष्टि से भावी है, परन्तु द्रव्य दृष्टि से भव्य प्राणी में सदा ही पायी जाती है ऐसा होने से आत्मा को अर्हन्त रूप ध्याने विभ्रम कैसा ? यह तो एक प्रकार से अर्हन्त का ही अर्हन्त रूप से ध्यान करने जैसा है ।

किञ्च भ्रान्तं यदीदं स्यात्तदा नातः फलोदयः ।
न हि मिथ्याजलाज्जातु विच्छित्तिर्जायते तृषः ॥१९४॥
प्रादुर्भवन्ति चामुष्मात्फलानि ध्यानवर्तिनाम् ।
धारणावशतः शान्तक्रूररूपाण्यनेकधा ॥१९५॥

अर्थ—यदि इस ध्यान को भ्रान्त या भ्रमयुक्त माना जाये तो इस ध्यान से फल की प्राप्ति नहीं होना चाहिये । क्योंकि झूठे (असत्य) पानी से कभी भी प्यास की शान्ति नहीं होती है । जब कि ध्यान करने वाले योगियों को धारणा के अनुसार इस ध्यान से शान्त और क्रूर रूप वाले अनेक प्रकार के फल प्रकट होते हैं इसलिये आत्मा का अर्हन्त रूप से ध्यान करना भ्रांति रूप नहीं है ॥ १९४-१९५ ॥

ध्यान का फल

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः ।
अनन्तशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥१९६॥

अर्थ—गुरु के उपदेश को पाकर शान्त चित्त से ध्यान करता हुआ अनन्त शक्ति वाला यह आत्मा मुक्ति और भुक्ति को प्राप्त होता है ॥ १९६ ॥

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये ।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥१९७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—अर्हन्त और सिद्ध के रूप में ध्याया गया यह आत्मा चरम शरीरी को धारण करने वाले को मुक्ति का कारण होता है और वही ध्यान उस ध्यान से प्राप्त पुण्य वाले अचरमशरीरी को भुक्ति (भोग) का कारण होता है ॥ १९७ ॥

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिपुष्टिर्वपुर्धृतिः ।
यत्प्रशस्तमिहान्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते ॥१९८॥

अर्थ—अर्हन्त सिद्ध का ध्यान करने वाले को ज्ञान, सम्पत्ति, आयु, नीरोगता, तुष्टि, पुष्टि, शरीर, धृति तथा जो कुछ भी अन्य इस संसार में प्रशंसनीय वस्तुएँ हैं वह सब प्राप्त हो जाती हैं ॥ १९८ ॥

तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकम्पन्ते महाग्रहाः ।
नश्यन्ति भूतशाकिन्यः क्रूराः शाम्यन्ति च क्षणात् ॥१९९॥

अर्थ—अर्हन्त सिद्ध के ध्यान में तल्लीन उस योगी को देखकर महाग्रह भी कम्पायमान होने लगते हैं, भूत एवं शाकिनी नष्ट हो जाते हैं तथा क्रूर स्वभाव वाले भी क्षणभर में शान्त हो जाते हैं ॥ १९९ ॥

यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमात्मनः ।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवाञ्छितम् ॥२००॥

पार्श्वनाथोऽभवन्मन्त्री सफलीकृतविग्रहः ।
महामुद्रां महामन्त्रं महामण्डलमाश्रितः ॥२०१॥

अर्थ—जो जिस कार्य में समर्थ देवता है, ध्यान करने वाला योगी तदात्मक अर्थात् वैसा ही होकर आत्मा के ध्यान में तल्लीन होकर अपने अभीष्ट को सिद्ध कर लेता है, महामुद्रा, आसन, महामन्त्र तथा महामण्डल का आश्रय लेने वाला मन्त्री मरुभूति अपने शरीर को सफल करके पार्श्वनाथ बन गया था ॥ २००-२०१ ॥

तैजसीप्रभृतीर्बिभ्रद् धारणाश्च यथोचितम् ।
निग्रहादीनुदग्राणां ग्रहाणां कुरुते द्रुतम् ॥२०२॥

अर्थ—यथायोग्य तैजसी आदि धारणाओं को धारण करता हुआ योगी उदग्र (क्रूर) ग्रहों का शीघ्र ही नियन्त्रण आदि कर लेता है ॥ २०२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयमाखण्डलो भूत्वा महामण्डलमध्यगः ।
किरीटकुण्डली वज्री पीतमू (भू) षाम्बरादिकः ॥२०३॥
कुम्भको स्तम्भमुद्राद्यास्तम्भनं मन्त्रमुच्चरन् ।
स्तम्भकार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्रमानसः ॥२०४॥

अर्थ—महामण्डल के मध्य में विद्यमान स्वयं इन्द्र रूप होकर तथा किरीट एवं कुण्डल को धारण करने वाला, वज्र को धारण करने वाला (?) होकर एकाग्र चित्त वाला वह योगी कुम्भक वायु को धारण कर स्तम्भ-मुद्रा आदि के द्वारा स्तम्भन मन्त्र का उच्चारण करता हुआ सभी स्तम्भन रूप कार्यों को कर लेता है ॥ २०३-२०४ ॥

स स्वयं गरुडीभूय क्ष्वेडं क्षपयति क्षणात् ।
कन्दर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यताम् ॥२०५॥

अर्थ—वह (ध्यान करने वाला योगी) स्वयं गरुड़ होकर क्षण भर में विष को नष्ट कर देता है और स्वयं कामदेव होकर संसार को वश में कर लेता है ॥२०५॥

एवं वैश्वानरो भूयं ज्वलज्ज्वालाशताकुलः ।
शीतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरम् ॥२०६॥

अर्थ—इसी प्रकार जलती हुई सैकड़ों ज्वालाओं से व्याप्त अग्नि होकर अपनी ज्वालाओं से रोगी व्यक्ति को व्याप्त कर शीघ्र ही शीतज्वर को दूर कर देता है ॥२०६॥

स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे ।
अथैतमात्मसात्कृत्य दाहज्वरमपास्यति ॥२०७॥

अर्थ—स्वयं अमृतमय होकर रोगी व्यक्ति के ऊपर अमृत की वर्षा करता हुआ वह योगी उसे आत्मसात् (अमृतमय) करके दाहज्वर को दूर कर देता है ॥२०७॥

क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत् ।
शान्तिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम् ॥२०८॥

अर्थ—क्षीरसागर मय होकर सम्पूर्ण संसार को आप्लावित करता हुआ वह योगी शरीरधारियों के शान्ति कर्म एवं पौष्टिक कर्म को करता है ॥२०८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति ।
तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम् ॥२०९॥

अर्थ—इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है ? वह जिस-जिस कर्म को करना चाहता है, उस कर्म के देवता रूप होकर उस-उस कर्म को पूर्ण कर लेता है ॥२०९॥

शान्ते कर्मणि शान्तात्मा क्रूरे क्रूरो भवन्नयम् ।
शान्तक्रूराणि कर्माणि साधयत्येव साधकः ॥२१०॥

अर्थ—शान्त कर्म में शान्त स्वभाव वाला और क्रूर कर्म में क्रूर स्वभाव वाला होता हुआ यह साधक योगी शान्त और क्रूर कर्मों को सिद्ध कर ही लेता है ॥२१०॥

आकर्षणं वशीकारः स्तम्भनं मोहनं द्रुतिः ।
निर्विषीकरणं शान्तिविद्वेषोच्चाटनिग्रहाः ॥२११॥
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनाम् ।
ततः समरसीभावसफलत्वान्न विभ्रमः ॥२१२॥

अर्थ—आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, द्रुति, निर्विषीकरण, शान्ति, विद्वेष, उच्चाटन, निग्रह आदि इस प्रकार के कार्य ध्यान करने वाले योगियों के देखे जाते हैं, इसलिये समरसीभाव (तादात्म्य) के सफल हो जाने के कारण भ्रान्ति नहीं रहती है ॥२११-२१२॥

यत्पुनः पूरणं कुम्भो रेचनं दहनं प्लवः ।
सकलीकरणं मुद्रामन्त्रमण्डलधारणाः ॥२१३॥
कर्माधिष्ठातृदेवानां संस्थानं लिङ्गमासनम् ।
प्रमाणं वाहनं वीर्यं जातिर्नामद्युतिर्दिशा ॥२१४॥
भुजवक्त्रनेत्रसंख्या भावः क्रूरस्तथेतरः ।
वर्णस्पर्शस्वरोऽवस्था वस्त्रं भूषणमायुधम् ॥२१५॥
एवमादि यदन्यच्च शान्तक्रूराय कर्मणे ।
मन्त्रवादादिषु प्रोक्तं तद्ध्यानस्य परिच्छदः ॥२१६॥

अर्थ—पूरण, कुम्भक, रेचन, दहन, प्लवन, सकलीकरण, मुद्रा, मन्त्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मण्डल, धारण, कर्म के अधिष्ठाता देवों के संस्थान, लिङ्ग (चिह्न), आसन, प्रमाण, वाहन, वीर्य, जाति, नाम, द्युति, दिशा, भुजाओं की संख्या, मुखों की संख्या, नेत्रों की संख्या, क्रूरभाव, शान्त भाव, वर्ण, स्पर्श, स्वर, अवस्था, वस्त्र, आभूषण, आयुध आदि तथा शान्त और क्रूर कर्म के लिए जो अन्य मन्त्रवाद आदि ग्रन्थों में कहा गया है, वह सब ध्यान का सामग्री-समूह है ॥२१३-२१६॥

यदात्रिकं फलं किञ्चित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम् ॥२१७॥

अर्थ—जो कुछ इस लोक का और जो परलोक का फल है, इन दोनों का ध्यान ही प्रधान कारण है ॥२१७॥

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥२१८॥

अर्थ—तथा ध्यान के ये चार मुख्य कारण हैं—गुरु का उपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और स्थिर मन ॥२१८॥

अत्रैव माग्रहं कार्षुर्यद्ध्यानफलमैहिकम् ।
इदं हि ध्यानमाहात्म्यख्यापनाय प्रदर्शितम् ॥२१९॥

अर्थ—जो ध्यान का ऐहिक (इस लोक विषयक) फल है, इसी में आग्रह नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह तो ध्यान की महत्ता को बताने के लिए प्रदर्शित किया गया है ॥२१९॥

यद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनाम् ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥२२०॥

अर्थ—ऐहिक—इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा वालों का जो ध्यान होता है, वह रौद्र अथवा आर्त्तध्यान होता है । इसलिए इनका त्याग करके धर्म्य और शुक्ल ध्यान की उपासना करना चाहिये ॥२२०॥

विशेष—ध्यान सामान्यतया ४ प्रकार के हैं—"आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि" (तत्त्वार्थसूत्र ९।२८) आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल । इनमें आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के तथा धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान मुक्ति के कारण हैं । विशेष रूप से आर्त्तध्यान को तिर्यञ्चगति का, रौद्र ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को नरकगति का, धर्म्यध्यान को देवगति का तथा शुक्लध्यान को मोक्ष का कारण माना गया है। कहा भी गया है—

'अट्टेण तिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं।
धम्मेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्कझाणेण ॥'

(द्रष्टव्य ध्यानशतक, ५ की हरिभद्रसूरिविरचित वृत्ति)

आर्त्तध्यान—ऋतं दुःखम्, "अर्दनयतिर्वा, तत्र भवमार्त्तम्"—पीड़ा पहुँचाना अर्थ है जिसका वह है आर्त्तध्यान।

रौद्रध्यान—"रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्"—रुद्र का अर्थ है "क्रूर आशय"। अर्थात् क्रूर आशय में होने वाला ध्यान रौद्र है

धर्मादनपेतं धर्म्यम्—जो धर्म से युक्त है वह धर्म्यध्यान है तथा "शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्" जिसमें शुचि गुण का योग है वह शुक्लध्यान है। (स० सि० २८।९।८७४)

यह चार प्रकार का ध्यान दो भागों में विभक्त है प्रशस्त और अप्रशस्त। जो पापास्रव का कारण है वह अप्रशस्त है और जो कर्मोंके निर्दहन करने की सामर्थ्य से युक्त है वह प्रशस्त है।

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।
शुभाशुभमलापायाद् विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥२२१॥

अर्थ—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में तत्त्वज्ञान रूप, उदासीन और शुभ एवं अशुभ मलों के दूर हट जाने से विशुद्ध शुक्लध्यान को धारण करना चाहिये ॥२२१॥

विशेष—'शुचं क्लमयतीति शुक्लम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो ध्यान शोकादिक को दूर करने वाला है, वह शुक्लध्यान कहलाता है। आदिपुराण में शुक्लध्यान के दो भेद किये गये हैं—शुक्ल और परम शुक्ल। छद्मस्थों के शुक्ल और केवलियों के परम शुक्ल ध्यान कहा गया है (आदिपुराण २१।१६७)। परमशुक्ल से समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान समझना चाहिये। क्योंकि अन्यत्र किये गये शुक्लध्यान के चार भेदों में पृथक्त्व वितर्क सविचारी, एकत्ववितर्क अविचारी एवं सूक्ष्मक्रिया अनिवर्ती ये तीन परम शुक्ल नहीं कहे जा सकते हैं।

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
माणिक्यशिखावदिदं सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥२२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—कषाय रूपी रज के क्षय अथवा उपशम हो जाने से तथा विशुद्ध गुण के योग से यह शुक्लध्यान माणिक्य की शिखा की तरह अत्यन्त निर्मल और कम्पन से रहित होता है ॥२२२॥

रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्धनिबन्धनम् ।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्मुमुक्षसे ॥२२३॥

अर्थ—हे योगिन् ! यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो रत्नत्रय को ग्रहण करके बन्ध के कारण को त्याग कर हमेशा ध्यान का अभ्यास करो ॥२२३॥

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुट्यन्मोहस्य योगिनः ।
चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात् ॥२२४॥

अर्थ—तब ध्यान के अभ्यास के उत्कर्ष से मोहनीय कर्मका नाश करने वाले चरमशरीरी योगी को मुक्ति हो जाती है तथा अन्य (अचरम-शरीरी) की अनुक्रम से मुक्ति होती है ॥२२४॥

तथा ह्यचरमाङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणाम् ॥२२५॥

अर्थ—ध्यान का सदा अभ्यास करने वाले अचरम शरीरी योगी को समस्त अशुभ कर्मों की निर्जरा और संवर होता है ॥ २२५ ॥

आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणम् ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥२२६॥

अर्थ—और (उस अचरमशरीरी योगी के) प्रतिक्षण प्रचुर पुण्य कर्मों का आस्रव होता रहता है, जिनके द्वारा वह कल्पवासी देवताओं में महान् ऋद्धिसम्पन्न देव हो जाता है ॥ २२६ ॥

तत्र सर्वेन्द्रियामोदि मनसः प्रीणनं परम् ।
सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितम् ॥२२७॥

अर्थ—वहाँ सम्पूर्ण इन्द्रियों को आनन्दित करने वाले और मन को अत्यन्त प्रसन्न करने वाले सुखरूपी अमृत का पान करता हुआ वह देव-ताओं द्वारा सेवित होकर चिरकाल तक रहता है ॥ २२७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसम्पदः ।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगम्बरीं श्रितः ॥२२८॥
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधम् ।
विधूयाष्टापि कर्माणि श्रयते मोक्षमक्षयम् ॥२२९॥

शेष—वहाँ (स्वर्ग) से मर्त्यलोक में भी अवतीर्ण होकर चक्रवर्ती आदि की सम्पत्तियों को चिरकाल तक भोग कर और फिर स्वयं त्याग कर दिगम्बर दीक्षा का आश्रय लेनेवाला वज्रवृषभनाराचसंहननधारी वह योगी चार प्रकार के शुक्यध्यान का ध्यान करके आठों कर्मों को नष्ट कर अविनाशी मोक्ष का आश्रय लेता है ॥ २२८-२२९ ॥

आत्यन्तिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः ।
स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिकाः गुणाः ॥२३०॥

अर्थ—जीव और कर्म का अपने ही कारण से जो अत्यन्त अलगाव है, वह मोक्ष कहलाता है। ज्ञान आदि क्षायिक गुणों का प्रकटीकरण इस (मोक्ष) का फल है ॥२३०॥

विशेष—मुच् धातु से मोक्ष शब्द की सिद्धि हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है छूटना। श्री समन्तभद्र स्वामी के अनुसार—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥ १३ ॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार

अविनाशी, जन्म-जरा-बुढ़ापा, रोगशोक, मृत्यु, दुख व सातभयों से रहित अक्षय अतीन्द्रिय सुखवाली परमकल्याणकारी अवस्था मोक्ष है।

'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' ॥

—तत्त्वार्थसूत्र २/१०

बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यधिक क्षय होना मोक्ष है।

जब आत्मा कर्ममलकलंक (राग-द्वेष-मोह) और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं। —(स० सि० १/१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष के भेद हैं—सामान्य की अपेक्षा मोक्ष एक ही प्रकार है। द्रव्य-भाव और भोक्तव्य की दृष्टि से अनेक प्रकार का है। (रा० वा० १)

वह मोक्ष तीन प्रकार का है—जीवमोक्ष, पुद्गलमोक्ष और जीव पुद्गलमोक्ष। (ध० १३)

क्षायिकज्ञान, दर्शन व यथाख्यातचारित्र नामवाले (शुद्धरत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं उन परिणामों को मोक्ष अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं और सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्यमोक्ष है। (द्रव्यसंग्रह)

मुक्तात्माओं की लोकाग्र में स्थिति

कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्यास्वभावतः ।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥२३१॥

अर्थ—कर्मों के बन्धन का विध्वंस हो जाने से और ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण मुक्त जीव एक ही क्षण में संसार के चूडाग्र भाग तक चला जाता है ॥ २३१ ॥

विशेष—समस्त कर्मों का क्षय होते ही तुरन्त उसी समय मुक्त जीव ऊपर की ओर लोक के अन्त तक जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—'तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।' १०/५, सर्वार्थसिद्धि विमान से १२ योजन ऊपर ८ योजन मोटी १ राजू पूर्व पश्चिम और ७ राजू उत्तर दक्षिण की ओर ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथिवी के ऊपरी भाग में बीचोंबीच मनुष्य लोक प्रमाण ४५ योजन समतल अर्द्ध गोलाकार सिद्धशिला है। वहाँ सिद्ध विराजमान रहते हैं। मुक्त जीवों के ऊर्ध्वगमन में चार कारण माने गये हैं—१. पूर्व प्रयोग अर्थात् मोक्ष के लिए किया गया पुरुषार्थ, २. संग रहित हो जाना, ३. बन्ध का नाश हो जाना और ४. ऊर्ध्वगमन स्वभाव होना। तत्वार्थसूत्र में कहा गया है—'पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।' १०/६. जीव का यद्यपि ऊर्ध्व गमन स्वभाव है किन्तु मुक्तजीव लोकाग्र या जगच्चूडाग्र में ही ठहर जाते हैं, क्योंकि जीव और पुद्गलों का गमन धर्म द्रव्य की सहायता से होता है और धर्मद्रव्य लोकाकाश तक ही पाया जाता है। आगे अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन करने में ऊर्ध्वगमन स्वभाव रूप स्वयं का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य तो उपादान कारण है और धर्मद्रव्य निमित्त कारण है। जहाँ तक मुक्त जीवों को ऊर्ध्वगमन करने में यह दोनों प्रकार की कारण सामग्री प्राप्त होती है, वहीं तक ऊपर जाना सम्भव है। धर्मद्रव्य लोक के अन्त तक ही पाया जाता है। अतः ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी जीव उसके आगे गमन नहीं कर सकता है।

मुक्त होने पर संकोच विस्तार नहीं

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ।
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्धेतुकर्मणाम् ॥२३२॥

अर्थ—संसार में जीव का कर्मों के उदय से संकोच और विस्तार होता है। मोक्ष में जीव के उस (संकोच-विस्तार) के कारणों का नाश हो जाने से वे दोनों (संकोच और विस्तार) नहीं होते हैं॥ २३२॥

विशेष—जैनदर्शन की मान्यता है कि जीव का आकार शरीर के आकार होता है। मुक्त जीवों का शरीर नहीं रहता है तो फिर उनका जीवात्मा लोकाकाश में फैल जाना चाहिये क्योंकि उसका स्वाभाविक परिणाम तो लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर बतलाया गया है? इस आशंका का समाधान ही इस कारिका द्वारा किया गया है। आत्मा के प्रदेशों में संकोच-विस्तार नामकर्म के कारण होता था। क्योंकि नामकर्म के कारण जैसा शरीर मिलता था, उसी के अनुसार आत्मप्रदेशों में संकोच और विस्तार होता था। मुक्त होने पर नामकर्म का अभाव हो जाने के कारण संकोच और विस्तार का अभाव हो जाता है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह के टीकाकार श्री ब्रह्मदेव ने मुक्तात्मा के संकोच-विस्तार न होने में अनेक उदाहरण गाथा १/१४ की वृत्ति में दिये हैं। वे लिखते हैं कि जैसे किसी मनुष्य की मुट्ठी के भीतर चार हाथ लम्बा भिचा हुआ वस्त्र है। मुट्ठी खोल देने पर भी पुरुष के अलग हो जाने पर भी वह वस्त्र संकोच विस्तार नहीं करता है, अपितु पुरुष ने जैसा छोड़ा था, वैसा ही रहता है। अथवा गीली मिट्टी का बर्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता है, किन्तु जब वह सूख जाता है तब जल का अभाव होने से संकोच-विस्तार को प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार मुक्त जीव भी पुरुष के स्थानभूत अथवा जल के स्थानभूत शरीर के अभाव में संकोच-विस्तार नहीं करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्त जीवों का अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार

ततः सोऽनन्तरत्यक्तस्वशरीर प्रमाणतः ।
किञ्चिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्वगुणात्मकः ॥२३३॥

अर्थ—इसलिये वह (मुक्त जीव) वहाँ अपने तुरन्त त्यागे गये शरीर के प्रमाण से कुछ कम, तदाकार तथा आत्मा के गुणों से परिपूर्ण रहता है ॥२३३॥

विशेष—तिलोयपण्णत्ती ९/१० में आचार्य यतिवृषभ ने कहा है कि अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता एवं बाहुल्य होता है, उसके तृतीय भाग विहीन सब सिद्धों की अवगाहना होती है। यही बात सिद्धान्त-सारदीपक १६/८ में भी कही गई है। सिद्धों के आत्मप्रदेशों का फैलाव प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा अपनी-अपनी अन्तिम शरीर अवगाहना से कुछ कम होता है। भूत दृष्टि से उसे शरीर प्रमाण तदाकार माना गया है।

सभी सिद्ध सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध इन आठ गुणों से पूर्ण होते हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने कहा है—

'णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥'

—बृहद्द्रव्यसंग्रह, १/१४

अर्थात् सिद्ध भगवान् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं। लोकाग्र में स्थित, नित्य एवं उत्पाद-व्यय से संयुक्त हैं।

मुक्तावस्था में जीव का अभाव नहीं

स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥२३४॥

अर्थ—तब विनष्ट हो चुके कर्मों वाले पुरुष की स्वरूप या स्वाभाविक अवस्था होती है। न तो अभाव होता है और न ही अचेतनपना। चैतन्य अनर्थक (व्यर्थ) नहीं होता है ॥२३४॥

विशेष—भारतीय दर्शनों में आत्मा की मुक्तावस्था के सम्बन्ध को लेकर विभिन्न विवाद हैं यथा—किसी का कहना है मुक्ति में आत्मा का उच्छेद-नाश हो जाता है, बुद्धि आदि गणों का नाश होना मुक्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धों की मान्यता है कि जिस प्रकार तैल के क्षय हो जाने से दीपक वहीं समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार क्लेश का क्षय हो जाने से आत्मा वहीं समाप्त हो जाता है। वैशेषिक व योगों की मान्यता है कि बुद्धि सुख, इच्छा आदि विशिष्ट गुणों का नाश हो जाना सिद्धि है पर उनकी यह मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने वालों के यहाँ तपश्चरणादि की योजना नहीं बनती है। कोई भी अपने आपका सर्वथा नाश करने और अपने असाधारण गुणों को नष्ट करने के लिये तपश्चरण की योजना नहीं करता। चार्वाक आत्मा को पृथिवी आदि चतुष्टय से उत्पन्न हुआ मानता है उस दर्शन में आत्मा ही नहीं है तब मुक्त दशा कैसे हो सकती है? अतः आत्मा का अस्तित्व बताने के लिये कहा गया है कि आत्मा है वह अनादि से बद्ध है, कर्म सहित है, अपने द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने वाला है. स्वकृत कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष को प्राप्त करता है। मुक्तात्मा—

अट्ठविह कम्म वियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवसिणो सिद्धा॥

—जीवकाण्ड

मुक्त जीव अष्ट कर्मों से रहित, शान्तरूप, निरञ्जन, शाश्वत आठ गुणों युक्त, कृतकृत्य और लोकाग्र में निवास करता है।

मुक्तावस्था में जीव का अभाव नहीं है जैसा कि कहा है—

नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्नयुक्ते-
रस्त्यात्मानादिबद्ध स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी।
ज्ञाता दृष्टा स्वदेह प्रतिमतिरूपसमाहार विस्तार धर्मा,
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत-इतो नान्यथा साध्यसिद्धि॥ २॥

—सिद्ध भ०

जीव का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनम्।
भानुमण्डलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनम्॥२३५॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों का स्वरूप, सूर्य मण्डल की तरह स्व और पर को प्रकाशन करने (जानने) का है। उनका प्रकाशन दूसरों से नहीं होता है॥२३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्तात्मा स्वस्वभाव में स्थित

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिः स्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ।।२३६।।

अर्थ—जिस प्रकार संसर्गजन्य मैल के नष्ट हो जाने पर मणि अपने हेतुओं से स्थित रहता है उसी प्रकार कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव या आत्मा स्वभाव से ही स्थित रहता है ।।२३६।।

विशेष—जिस प्रकार सुवर्णपाषाण में स्वर्णपर्याय प्राप्त करने की योग्यता है परन्तु किट्ट-कालिमादि बाह्य पदार्थों का आवरण होने से वह स्वर्ण पर्याय प्रकट नहीं हो पाती; जब अग्निसंतापन आदि बाह्य कारणों की योजना से बाह्य पदार्थों को दूर कर दिया जाता है तब स्वर्ण पर्याय प्रकट हो जाती है । इसी प्रकार प्रत्येक भव्य प्राणी में सिद्धि-मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता है परन्तु ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों और उनके निमित्त से होने वाले विकारी दोषों के रहते हुए सिद्धि मुक्ति पर्याय प्रकट नहीं हो पाती; जब तपश्चरणादि कारणों की योजना से वे कर्म और उनसे उत्पन्न होने वाले विकारी भाव नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा में मुक्ति पर्याय प्रकट हो जाती है । जिन जीवों ने ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों का क्षय कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किन्तु स्वस्थः प्रतिक्षणम् ।।२३७।।

अर्थ—(वह मुक्त आत्मा) न मोहित होता है, न सोता है, न स्वार्थों की ओर जाता है, न राग करता है और न द्वेष करता है अपितु प्रतिक्षण अपने में स्थित रहता है ।।२३७।।

त्रिकाल त्रिलोक के ज्ञाता होकर भी उदासीन

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितम् ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स सदा प्रभुः ।।२३८।।

अर्थ—तब वह समर्थ आत्मा तीनों काल के ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थों को और अपने को अपने-अपने स्वरूप में स्थित जानता और देखता हुआ पूर्णरूप से उदासीन रहता है ।। २३८ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—'सकल ज्ञेयज्ञायक सदपि निजानन्द रसलीन'

जीवादि द्रव्यों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें वर्तमान पर्यायों की तरह अथवा हस्तामलकवत् जानते हुए भी त्रिकालदर्शी अर-हंतदेव स्व-स्वरूप में लीन रहते हैं। जैसा कि कहा है—

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसंगः।
प्रबुद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः पादाय पायात्पुरुषः पुराण ॥ १ ॥

प्रश्न उठता है कि जो आत्मस्वरूप में स्थित होगा वह सर्वव्यापक कैसे ? समाधान यह है कि पुराणपुरुष आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, पर उनका ज्ञान सब लोकालोक के पदार्थों को जानता है, अतः वे सर्वगत हैं।

सिद्धों को अनन्तसुख

अनन्तज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययम् ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातीन्द्रियमच्युतः ॥२३९॥

अर्थ—यहाँ यह अविनाशी मुक्तात्मा अतीन्द्रिय, अनन्तज्ञान-अनन्त-दर्शन-अनन्तवीर्यमय, तृष्णाहीन और अविनाशी सुख का अनुभव करता है ॥ २३९ ॥

विशेष—सिद्धों का सुख—चक्रवर्तियों के सुख से भोगभूमियों जीवों का सुख अनन्तगुणा अधिक होता है। इनसे धरणेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है, इनसे देवेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है उस देवेन्द्र से भी अहमिन्द्र का सुख अनन्तगुणा है। इन सभी के अनन्तानन्त गुणित अतीतकाल, भवि-ष्यत्काल वर्तमानकाल सम्बन्धी सभी सुखों को भी एकत्रित कर लीजिये और सबको मिला दीजिये। तीन लोक से भी अधिक ढेर के समान इन-सम्पूर्ण सुखों की अपेक्षा भी अनन्तान्त गुणा अधिक सुख सिद्ध भगवान् को एक क्षण में उस मुक्तिकान्ता के समागम से प्राप्त होता है।

सिद्धसुख विषय एक शंका

ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखम् ॥२४०॥

अर्थ—यहाँ शंका होती है कि (संसार में) इन्द्रियों के द्वारा उनके विषयों का अनुभव करने वाले को सुख हो सकता है। अतीन्द्रिय मुक्त जीवों में मोक्ष में वह सुख कैसे हो सकता है ? ॥ २४० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान

इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः ।
नाद्यापि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ॥२४१॥

अर्थ—मोहनीय कर्म के उदय से यदि तुम ऐसा मानते हो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि हे वत्स ! अब भी तुम सुख एवं दुःख का स्वरूप नहीं जानते हो ॥२४१॥

आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम् ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥२४२॥

अर्थ—जो आत्मा के आधीन है, बाधाओं से रहित है, अतीन्द्रिय है, कभी नष्ट न होने वाला है तथा चार घाति कर्मों के नाश से उत्पन्न हुआ है, उसे मोक्षसुख कहते हैं ॥२४२॥

विशेष—इन्द्रियजनित सुख प्रथम तो सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मों के उदय से प्राप्त होता है, अतः स्वाधीन नहीं है। दूसरे, पुण्य कर्मों के उदय से प्राप्त होने पर भी तभी तक रहता है, जब तक पुण्य का उदय है। बाद में वह नियम से नष्ट हो जाता है तथा उसकी उत्पत्ति दुःखों में पर्यवसित है। अतः ऐसा सुख अश्रेय है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा भी गया है—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥ १२ ॥

अतः जहाँ पर दुःख का लेश भी न हो, उसे ही यथार्थ सुख समझना चाहिये। ऐसा सुख प्राणी को कर्मबन्धन से रहित हो जाने पर मोक्ष में ही प्राप्त हो सकता है। क्योंकि मोक्षसुख स्वाधीन, निर्बाध, अतीन्द्रिय एवं अविनाशी होने से इन्द्रिय सुख की तरह दुःखों से व्यवहित नहीं है।

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्रनासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गति यत्र नागति ॥ ४६ ॥ आ० शा०

धर्म वह है जिसके होने पर अधर्म, ज्ञान वह है जिसके होने पर अज्ञान न रहे, गति वह है जिसके होने पर आगमन न हो तथा सुख वह है जिसके होने पर दुःख न हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम् ।
स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासन्तापकारणम् ॥२४३॥
मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबन्धनम् ।
दुःखकारणबन्धस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥२४४॥

अर्थ—और सांसारिक सुख रागात्मक है, विनाशीक है, आत्मा एवं परद्रव्यों से उत्पन्न होने वाला है, तृष्णा एवं सन्ताप का कारण है, मोह, द्रोह, मद, क्रोध, माया एवं लोभ का कारण है, वह दुःख के कारणभूत बन्ध का हेतु होने से वास्तव में दुःख ही है ॥२४३-२४४॥

विशेष—सभी प्राणी सुखाभिलाषी हैं, कोई भी दुःख को नहीं चाहता है। अज्ञानी प्राणी जिसे सुख समझता है, वह सुख नहीं है सुखाभास है। उस सुख के अनन्तर पुनः अनिवार्य रूप से दुःख होता है। क्योंकि पुण्य कर्म के क्षीण हो जाने पर दुःख के हेतुभूत पाप का उदय अवश्यंभावी है। इसके अतिरिक्त वह आसक्ति और तृष्णा का बढ़ाने वाला होने से पापास्रव का कारण भी है। अतः ऐसे दुःख में पर्यवसान वाले सुख को वास्तव में दुःख ही समझना चाहिये। यही इन दोनों श्लोकों का भावार्थ है।

तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत्सुखम् ।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद् विजृम्भितम् ॥२४५॥

अर्थ—विषय भोगों से भी जो सुख मिलता है, वह मोहनीय कर्म का ही माहात्म्य है। जो पटोल (कड़वा करेला) भी स्वादिष्ट लगता है वह श्लेष्मा का ही प्रभाव है ॥२४५॥

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम् ।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥२४६॥

अर्थ—इस जगत् में चक्रवतियों का जो सुख है और स्वर्ग में देवताओं का जो सुख है, वह परमात्माओं के सुख की एक कला के समान भी नहीं है ॥ २४६ ॥

मोक्ष ही उत्तम पुरुषार्थ

अतएवोत्तमो मोक्षः पुरुषार्थेषु पठ्यते ।
स च स्याद्वादिनामेव नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥२४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—इसीलिए पुरुषार्थों में मोक्ष उत्तम पुरुषार्थ कहा जाता है और वह स्याद्वादियों (जैन दार्शनिकों) के ही हैं, आत्मा से विद्वेष करने वाले अन्य लोगों के नहीं है ॥ २४७ ॥

एकांतवादियों के बंध और मोक्ष नहीं

यद्वा बन्धश्च मोक्षश्च तद्हेतू च चतुष्टयम् ।
नास्त्येवैकान्तरक्तानां तद्व्यापकमनिच्छताम् ॥२४८॥

अर्थ—अथवा बन्ध और मोक्ष तथा उनके कारण ये चार एकान्तवाद में आसक्त एवं उनको व्यापक नहीं मानने वाले लोगों के नहीं हैं ॥२४८॥

विशेष—एकान्तवादियों ने सर्वथा शब्द का प्रयोग कर बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था का ही लोप कर दिया है यह बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था वीतरागी जिनशासन के अलावा अन्यों में देखने को नहीं मिलती। इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्री समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र ग्रन्थ में लिखा है कि—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू, बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं, नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥ ४ ॥

—स्वयम्भू स्तोत्र स्तवन

हे संभव जिन ! बन्ध, मोक्ष तथा बन्ध मोक्ष के हेतू और बद्ध आत्मा, मुक्त आत्मा और मुक्ति का फल यह सब अनेकान्तमत से निरूपण करने वाले आपके ही मत में ठीक होता है। एकान्तदृष्टि रखनेवाले बौद्ध आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानते हैं इसलिए उनके यहाँ बन्ध किसी का होता है, तो मोक्ष किसी दूसरे का होता है। सांख्य मत वाले आत्मा का सर्वथा नित्य मानते हैं अतः उनके मतानुसार जो आत्मा बद्ध है वह बद्ध ही है और जो मुक्त है वह मुक्त ही है अतः एकान्तवादियों के यहाँ बन्ध मोक्ष की व्यवस्था ठीक नहीं बैठती है। इसलिये हे स्वामिन् ! सच्चे उपदेष्टा आप ही हैं।

अनेकान्तात्मकत्वेन व्याप्तावत्र क्रमाक्रमौ ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता तयास्तित्वं चतुष्टये ॥२४९॥

अर्थ—बात यह है कि अनेकान्तात्मकत्व के साथ क्रम और अक्रम (यौगपद्य) व्याप्त है, क्रम अक्रम से अर्थक्रिया व्याप्त है और अर्थ क्रिया से अस्तित्व व्याप्त है। अर्थात् अस्तित्व (सत्ता) वहीं रह सकता है जहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ क्रिया हो, अर्थ क्रिया वहीं बन सकती है जहाँ क्रम और अक्रम (यौगपद्य) हों और क्रम अक्रम वहीं बन सकते हैं जहाँ अनेकान्तामकत्व हो ॥ २४९ ॥

मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु क्रमाक्रम निवृत्तितः ।
क्रियाकारकयोर्भ्रंशान्न स्यादेतच्चतुष्टयम् ॥२५०॥

अर्थ—लेकिन सर्वथा एकान्तवादियों के यहाँ जब मूल, व्यापक रूप अनेकान्तात्मकत्व ही नहीं माना गया तब क्रम और अक्रम की भी निवृत्ति हो जायगी। क्रम और अक्रम की निवृत्ति हो जाने से क्रिया व कारक भी नहीं बन सकेंगे और उनके न बनने से इन (बन्ध, बन्ध के कारण, मोक्ष, मोक्ष के कारण) चारों की व्यवस्था नहीं बन सकती है ॥ २५० ॥

ततो व्याप्त्या समस्तस्य प्रसिद्धश्च प्रमाणतः ।
चतुष्टयसदिच्छद्भिरनेकान्तोऽवगम्यताम् ॥२५१॥

अर्थ—इसलिये इन चारों की सत्ता मानने वाले लोगों को सर्वत्र व्याप्त होने के कारण और प्रमाण से सिद्ध अनेकान्त समझना चाहिये ॥ २५१ ॥

सारचतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्षः सद्ध्यानपूर्वकः ।
इति मत्वा मया किञ्चिद् ध्यानमेव प्रपञ्चितम् ॥२५२॥

अर्थ—इन चार में भी सच्चे ध्यानपूर्वक होने वाला मोक्ष सारभूत है। ऐसा मानकर मैंने कुछ ध्यान का ही विस्तार किया है ॥ २५२ ॥

ग्रंथकार की लघुता

यद्यप्यत्यन्तगम्भीरमभूमिर्मादृशामिदम् ।
प्रावर्तिषि तथाप्यत्र ध्यानभक्तिप्रचोदितः ॥२५३॥

अर्थ—यद्यपि ध्यान अत्यन्त गम्भीर है और यह हम जैसों के वर्णनीय नहीं है तथापि ध्यान की भक्ति से प्रेरित मैंने इसमें प्रवृत्ति की है ॥२५३॥

ग्रन्थकार की क्षमा याचना

यदत्र स्खलितं किञ्चिच्छाद्मस्थ्यादर्थशब्दयोः ।
तन्मे भक्तिप्रधानस्य क्षमताम् श्रुतदेवता ॥२५४॥

अर्थ—छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) होने के कारण इसमें जो कुछ शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अर्थ की त्रुटि हुई हो, भक्ति ही है प्रधान जिसे ऐसे मेरी उस त्रुटि को श्रुतदेवता क्षमा करें ॥ २५४ ॥

ग्रन्थकार की मंगलकामना

वस्तुयाथात्म्यविज्ञानश्रद्धानध्यानसम्पदः ।
भवन्तु भव्यसत्त्वानां स्वस्वरूपोपलब्धये ॥२५५॥

अर्थ—भव्य प्राणियों को अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए वस्तु का यथार्थ ज्ञान, यथार्थ श्रद्धान एवं ध्यान रूपी सम्पत्तियाँ प्राप्त होवें ॥ २५५ ॥

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्ति

श्री वीरचन्द्रशुभदेवमहेन्द्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयामरश्च ।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेनमुनिरुद्धचरित्रकीर्तिः ॥२५६॥

अर्थ—श्री वीरचन्द्र, शुभदेव और महेन्द्रदेव जिसके शास्त्रगुरु अर्थात् विद्यागुरु थे तथा पुण्यमूर्ति श्री विजयदेव दीक्षागुरु हुए ऐसे फैली हुई चारित्र की कीर्ति वाले श्री नागसेन मुनि हुए ॥ २५६ ॥

तेन प्रवृद्धधिषणेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धिसुखसम्पदुपायभूतम् ।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
श्रीनागसेनविदुषा व्यरचि स्फुटार्थम् ॥२५७॥

अर्थ—अत्यन्त बढ़ी हुई बुद्धि वाले उस विद्वान् नागसेन मुनि ने गुरु के उपदेश को पाकर, संसार के हित के लिए सिद्धि एवं सुखसम्पत्ति के साधनभूत इस स्पष्ट अर्थ वाले "तत्त्वानुशासन" नामक ग्रन्थ की रचना की ॥ २५७ ॥

जिनेन्द्राः सद्ध्यानज्वलनहुतघातिप्रकृतयः,
प्रसिद्धाः सिद्धाश्च प्रहततमसः सिद्धिनिलयाः ।
सदाचार्या वर्याः सकलसदुपाध्यायमुनयः
पुनन्तु स्वान्तं नस्त्रिजगदधिकाः पञ्च गुरवः ॥२५८॥

अर्थ—जिन्होंने समीचीन ध्यान रूपी अग्नि में चार घातिया कर्म प्रकृतियों को होम दिया है ऐसे श्री जिनेन्द्र अर्हन्त देव, नष्ट कर दिया है अज्ञानान्धकार जिन्होंने तथा सिद्ध शिला में विराजमान जो प्रसिद्ध सिद्ध परमेष्ठी, श्रेष्ठ, आचार्यवृन्द, समस्त प्रशस्त उपाध्याय गण व साधु समुदाय रूप जो त्रिलोकातिशायी पंचपरमेष्ठी हैं, वे हम लोगों के अन्तःकरण को पवित्र करें ॥ २५८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगत् दुग्धाम्बुराशाविव
ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुवः स्वस्त्रयी ।
शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासन्त्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायास्तु नः ॥२५९॥

इति श्रीमन्नागसेनमुनिविरचितः तत्त्वानुशासनसिद्धान्तः समाप्तः

अर्थ—क्षीरोदधि के समान जिनकी शरीर-कान्ति में सारा संसार डूबा हुआ है, जिनकी ज्ञान ज्योति में भू, भवः, और स्व की त्रयी (तिकड़ी) अत्यंत स्पष्ट रीति से प्रकाशमान हो रही है, दर्पण के समान जिनकी शब्द ज्योति (दिव्यध्वनि) में सम्पूर्ण चराचर पदार्थ झलक रहे हैं, जो अन्तरंग (अनन्तचतुष्टयादि) एवं बहिरंग (समवसरणादि) लक्ष्मी कर युक्त हैं तथा जो देवों द्वारा वन्दनीय हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान् हम लोगों को ज्योतित्रय—देहज्योति, ज्ञानज्योति व शब्द ज्योति के प्रदान करने वाले होवें ।

इस प्रकार श्रीमान् नागसेन मुनि द्वारा विरचित तत्त्वानुशासन नामक सिद्धान्तग्रन्थ समाप्त हुआ ।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक सं०

[अ]

अकारादिहकारान्ताः १०७
अचेतनं भवे नाहं १५०
अत एवान्यशून्योऽपि १७३
अत एवोत्तमो मोक्षः २४७
अत्रेदानीं निषेधन्ति ८३
अत्रैव माग्रहं कार्षु- २१९
अथवांगति जानाती- ६२
अथवा भाविनो भूताः १९२
अनन्तज्ञानदृग्वीर्य- २३९
अनन्तदर्शनज्ञान १२०
अनादिनिधने द्रव्ये ११२
अनेकान्तात्मकत्वेन २४९
अन्यच्छरीरमन्योऽहं १४९
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे ९१
अन्यथा व स्थितेष्वर्थेष्व- ९
अन्यात्माभावो नैरात्म्यं १७६
अप्रमत्तः प्रमत्तश्च ४६
अभावो वा निरोधः स्या- ६४
अभिन्नकर्तृकर्मादि- २९
अभिन्नमाद्यमन्यत्तु ९७
अभ्येत्य सम्यगाचार्य ४२
अर्थव्यञ्जनपर्याया ११६
अस्ति वास्तवसर्वज्ञः २

[आ]

आकर्षणं वशीकारः २११
आकारं मरुतापूर्य १८३
आज्ञापायो विपाकं च ९८
आत्मनः परिणामो यो ५२
आत्मानमन्यसम्पृक्तं १७७
आत्मायत्तं निराबाध २४२
आत्यन्तिकः स्वहेतोर्यो २३०
आदौ मध्येऽवसाने यद् १०१
आर्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं ३४
आस्रवन्ति च पुण्यानि २२६

[इ]

इति चेन्मन्यसे मोहात् २४१
इति संक्षेपतो ग्राह्य- ४०
इत्यादीन्मन्त्रिणो मन्त्रा- १०८
इदं दुःशकं ध्यातुं १८१
इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च ७६
इष्टे ध्येये स्थिरा ७२

[उ]

उभयस्मिन्निरुद्धे तु १६७

[ए]

एकं प्रधानमित्याहु ५७
एकाग्रचिन्तारोधो ५६
एकाग्रग्रहणं चात्र ५९
एकं च कर्ता करणं ७३
एतद् द्वयोरपि ध्येयं १८०
एवं नामादिभेदेन १३१
एवं विधमिदं वस्तु ११५
एवं वैश्वानरो भूयं २०६
एवं सम्यग्विनिश्चित्य १५९
एवमादि यदन्यच्च २१६
एवमादीनि कार्याणि २१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लोक सं०
[क]	
कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो	१६४
कर्मबन्धनविध्वंसाद्	२३१
कर्माधिष्ठातृदेवानां	२१४
किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा	१३८
किमत्र बहुनोक्तेन यद्	२०९
किं च भ्रान्तं यदीदं स्यात्	१९४
कुम्भकीस्तम्भमुद्राद्या-	२०४
क्षीरोदधिमयो भूत्वा	२०८
[ग]	
गणभृद्वलयोपेतं	१०६
गुप्तेन्द्रियमना ध्याता	३८
गुरूपदेशमासाद्य	१९६
[च]	
चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यैः	१२५
चरितारो न चेत्सन्ति	८६
चिन्ताभावो न जैनानां	१६०
चेतनोऽचेतनो वार्थो	१११
चेतसा वचसा तन्वा	२७
[ज]	
जन्माभिषेक प्रमुख-	१२६
जिनेन्द्रप्रतिबिम्बानि	१०९
जिनेन्द्राः सद्ध्यानज्वलन-	२५८
जीवादयो नवाप्यर्था	२५
जीवादिद्रव्ययाथात्म्य	१५२
ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं	१९८
ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्यां	७७
ज्ञानदर्शान्तरादात्मा	६९
ज्ञानवृत्त्युदयादयेष्व-	१०
[त]	
ततः पञ्चनमस्कारै	१८६
ततः सोऽनन्तरत्यक्त-	२३३
ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै	१७४
ततस्त्वं बन्धहेतूनां	२२
ततोऽयमर्हत्पर्यायो	१९३
ततोऽनपेतं यज्जातं	५४
ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि	२२८
ततो व्याप्त्या समस्तस्य	२५१
तत्त्वज्ञानमुदासीन-	२२१
तत्र बन्धः स हेतुभ्यो	६
तत्र सर्वेन्द्रियामोदि	२२७
तत्रात्मन्यसहाये	६५
तत्रादौ पिण्डसिद्ध्यर्थं	१८५
तत्रापि तत्त्वतः पञ्च	११९
तत्रासन्नी भवेन्मुक्तिः	४१
तथाद्यमाप्तमाप्तानां	१२३
तथाहि चेतनोऽसंख्य-	१४७
तथाह्यचरमांगस्य	२२५
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन्	१९
तदा च परमैकाग्र्याद्	१७२
तदा तथाविधध्यान-	१३६
तदास्य योगिनो योग-	६१
तदेवानुभवंश्चाय-	१७०
तद्ध्यानाविष्टमालोक्य	१९९
तन्न चोद्यं यतोस्माभि-	१८९
तन्मोहस्यैव माहात्म्यं	२४५
तस्मादेतस्य मोहस्य	२०
तस्मान्मोहप्रहाणाय	१४६
तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च	१८२
तादृक्सामग्र्यभावे तु	३६
तापत्रयोपतप्तेभ्यो	३
ताभ्यां पुनः कषायाः स्यु-	१७
तिष्ठत्येव स्वरूपेण	२३६
तेजसामुत्तमं तेजो	१२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लोक सं०
तेन प्रवृद्धाधिषणेन	२५७
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते	१८
तैजसीप्रभृतीर्बिभ्रद्	२०२
त्रिकालविषयं ज्ञेयं	२३८
[द]	
दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा	१४३
दूरमुत्सृज्यभूभागं	१२४
दृग्बोधसाम्यरूपत्वा	१६३
देहज्योतिषि यस्य मज्जति	२५९
देशः कालश्च सोऽन्वेष्य	३९
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री	४८
द्रव्यध्येयं बहिर्वस्तु	१३२
द्रव्यपर्याययोर्मध्ये	५८
द्रव्यार्थिकनयादेकः	६३
[ध]	
धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं	३०
धातुपिण्डे स्थितश्चैवं	१३४
ध्यातरि ध्यायते ध्येयं	७१
ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं	३७
ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य	८५
ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण	१९७
ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो	२१८
ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण	२२४
ध्याने हि बिभ्रते स्थैर्यं	१३३
ध्यायते येन तद्ध्यानं	६७
ध्यायेदइ उ ए ओ	१०३
ध्येयार्थालम्बनं ध्यानं	७०
[न]	
ननु चाक्षैस्तदर्थाना-	२४०
नन्वर्हन्तमात्मानं	१८८
न मुह्यति न संशेते	२३७
न हीन्द्रियधिया दृश्यं	१६६
नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो	१४८
नाम च स्थापनं द्रव्यं	९९
नासाग्रन्यस्तनिष्पन्द-	९३
निरस्तनिद्रो निर्भीति-	९५
निश्चयनयेन भणित-	३१
निश्चयाद्व्यवहाराच्च	९६
[प]	
परिणमते येनात्मा	१९०
पश्चादात्मानमर्हन्तं	१८७
पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्	१७८
परस्परपरावृत्ताः	१७५
पार्श्वनाथोऽभवन्मन्त्री	२०१
पुंसः संसारविस्तारौ	२३२
पुरुषः पुद्गलः कालो	११७
पूर्वं श्रुतेन संस्कारं	१४४
प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां	६०
प्रत्याहृत्याक्षलुण्टाकान्	९४
प्रमास्वलक्षणाकीर्णं	१२७
प्रमाणनयनिक्षेपै-	२६
प्रादुर्भवन्ति चामुष्मात्	१९५
[ब]	
बन्धहेतुविनाशस्तु	२३
बन्धहेतुषु मुख्येषु	२१
बन्धहेतुषु सर्वेषु	१२
बन्धस्य कार्यः संसारः	७
बन्धो निबन्धनं चास्य	४
ब्रुवता ध्यानशब्दार्थं	१४२
[भ]	
भुजवक्त्रनेत्रसंख्या	२१५
भूतले वा शिलापट्टे	९२
[म]	
मत्तः कायदयो भिन्ना-	१५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लोक सं०
ममाहङ्कारनामानौ	१३
महासत्त्वः परित्यक्त-	४५
माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा	१३९
मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्	१६
मुख्योपचारभेदेन	४७
मुक्तलोकद्वयापेक्षः	४४
मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु	२५०
मोक्षहेतुर्पुनर्द्वेधा	२८
मोक्षस्तत्कारणं चैतद्	५
मोहद्रोहमदक्रोध-	२४४
[य]	
यस्तु सांसारिकं सौख्यं	२४३
यत्पुनः पूरणं कुम्भो	२१३
यत्पुनर्वज्रकायस्य	८६
यथानिर्वातदेशस्थः	१७१
यथाभ्यासेन शास्त्राणि	८८
यथा यथा समाध्याता	१७९
यथैकमेकदा द्रव्य-	११०
यथोक्तलक्षणो ध्याता	८९
यदचेतत्तथा पूर्वं	१५६
यदत्र चक्रिणां सौख्यं	२४६
यदत्र स्खलितं किञ्चि-	२५४
यदात्रिकं फलं किञ्चित्	२१७
यदा ध्यानबलाद्ध्याता	१३१
यद्ध्यानरौद्रमार्तं वा	२२०
यद्यप्यत्यन्तगंभीर-	२५३
यद्वा बन्धश्च मोक्षश्च	२४८
यद्विवृतं यथापूर्वं	११३
यन्न चेतयते किञ्चिन्	१५१
यन्मिथ्याभिनिवेशेन	१६५
यस्तु नालम्बते श्रौतीं	१४५
यस्तूत्तमक्षमादिः स्याद्	५५

	श्लोक सं०
ये कर्मकृता भावाः	१५
येऽत्राहुर्न हि कालेऽयं	८२
येन भावेन यद्रूपं	१९१
येनोपायेन शक्येत	७८
योऽत्र स्वस्वामिसम्बन्धी	१५१
यो मध्यस्थः पश्यति	३२
यो यत्कर्मप्रभुर्देव	२००
[र]	
रत्नत्रयमुपादाय	२२३
[ल]	
लोकाग्रशिखरारूढ-	१२२
[व]	
वज्रकायः स हि ध्यात्वा	२२९
वज्रसंहननोपेताः	३५
वपुषोऽप्रतिभासेऽपि	१६८
वस्तुयाथात्म्यविज्ञान-	२५५
वाच्यस्य वाचकं नाम	१००
वीतरागोऽप्यं देवो	१२९
वृत्तिमोहोदयाज्जन्तोः	११
वेद्यत्वं वेदकत्वं च	१६१
व्यवहारनयादेवं	१४१
[श]	
शश्वदनात्मीयेषु स्व-	१४
शान्ते कर्मणि शान्तात्मा	२१०
शुचिगुणयोगाच्छुक्लं	२२२
शून्यागारे गुहायां वा	९०
शून्यीभवदिदं विश्वं	५३
श्रीवीरचन्द्रशुभदेवमहेन्द्रदेवाः	२५६
श्रुतज्ञानमुदासीनं	६६
श्रुतज्ञानेन मनसा	६८
श्रुतेन विकलेनापि	५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	श्लोक सं०
[स]	
संक्षेपेण यदत्रोक्तं	१४०
संगत्यागः कषायाणां	७५
स च मुक्ति हेतुरिद्धो	३३
सञ्चिन्तयन्ननुप्रेक्षाः	७९
सति हि ज्ञातरि ध्येयं	११८
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि	५१
सद्द्रव्यमस्मि चिदहं	१५३
सन्नेवाहं सदाप्यस्मि	१५४
सप्ताक्षरं महामन्त्रं	१०४
समाधिस्थेन यद्यात्मा	१६९
सम्यग्गुरूपदेशेन	८७
सम्यग्ज्ञानादिसम्पन्नाः	१३०
सम्यग्निर्णीतजीवादि-	४३
स स्वयं गरुडीभूय	२०५
सहवृत्ता गुणास्तत्र	११४
साकारं च निराकार-	१२१
सामग्रीतः प्रकृष्टाया	४९
सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन्	२५२
सिद्धस्वार्थानशेषार्थं	१
सोऽयं समरसीभाव-	१३७
स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञान	२४
स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञान	८
स्वपरज्ञप्तिस्वरूपत्वात्	१६२
स्वयं सुधामयो भूत्वा	२०७
स्वयमाखण्डलो भूत्वा	२०३
स्वयमिष्टं न च द्विष्टं	१५७
स्वरूपं सर्वजीवानां	२३५
स्वरूपावस्थितिः पुंसः	२३४
स्वात्मानं स्वात्मनि	७४
स्वाध्यायः परमस्ताव-	८०
स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां	८१
[ह]	
हमन्त्रो नभसि ध्येयः	१८४
हृत्पङ्कजे चतुःपत्रे	१०२
हृदयेऽष्टदले पद्मं	१०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

S.N SARKAR

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org